

चाणक्य-प्रणीत सूत्र



COLLECTION OF VARIOUS

-> HINDUISM SCRIPTURES

-> HINDU COMICS

-> AYURVEDA

-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

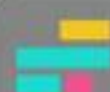
Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING



COLLECTION OF VARIOUS

-> HINDUISM SCRIPTURES

-> HINDU COMICS

-> AYURVEDA

-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

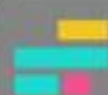
Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING

चाणक्य-प्रणीत सूत्र

सुखस्य मूलं धर्मः ॥ १ ॥ धर्मस्य मूलमर्थः ॥ २ ॥ अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥ ३ ॥ राज्यमूलमिन्द्रियजयः ॥ ४ ॥ इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः ॥ ५ ॥ विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥ ६ ॥ वृद्धसेवाया विज्ञानम् ॥ ७ ॥ विज्ञाने-
नात्मानं सम्पादयेत् ॥ ८ ॥ सम्पादितात्मा जितात्मा भवति ॥ ९ ॥ जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्येत ॥ १० ॥ अर्थसम्पत्प्रकृतिसम्पदं करोति ॥ ११ ॥ प्रकृतिसम्पदा ह्यनायकमपि राज्यं नीयते ॥ १२ ॥ प्रकृतिकोपः सर्वकोपे-
भ्यो गरीयान् ॥ १३ ॥

अविनीतस्वामिलाभादस्वामिलाभः श्रेयान् ॥ १४ ॥ सम्पाद्यात्मान-
मन्विच्छेत् सहायवान् ॥ १५ ॥ नासहायस्य मन्त्रनिश्चयः ॥ १६ ॥ नैकं चक्रं
परिभ्रमयति ॥ १७ ॥ सहायः समसुखदुःखः ॥ १८ ॥

मानो प्रतिमानिनमात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत् ॥ १९ ॥ अविनीतं
स्नेहमात्रेण न मन्त्रे कुर्वीत ॥ २० ॥ श्रुतवन्तमुपधाशुद्धं मन्त्रिणं कुर्वीत
॥ २१ ॥ मन्त्रमूलाः सर्वारम्भाः ॥ २२ ॥ मन्त्ररक्षणे कार्यसिद्धिर्भवति

सुख का मूल धर्म है ॥ १ ॥ धर्म का मूल अर्थ है ॥ २ ॥ अर्थ का मूल राज्य है
॥ ३ ॥ राज्य का मूल इन्द्रियजय है ॥ ४ ॥ इन्द्रियजय का मूल विनय (नम्रता)
है ॥ ५ ॥ विनय का मूल वृद्धों की सेवा है ॥ ६ ॥ वृद्धों की सेवा का मूल विज्ञान
है ॥ ७ ॥ इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आप को विज्ञान से सम्पन्न बनाए
(आत्मोन्नति करे) ॥ ८ ॥ जो पुरुष विज्ञान से सम्पन्न होता है वह स्वयं को भी
जीत सकता है ॥ ९ ॥ अपने ऊपर काबू पाने वाला मनुष्य समस्त अर्थों से सम्पन्न
होता है ॥ १० ॥ अर्थ-सम्पत्ति अमात्य आदि प्रकृति सम्पत्ति को देने वाली होती
है ॥ ११ ॥ प्रकृति-सम्पत्ति, के द्वारा नेता-रहित राज्य का भी संचालन किया जा
सकता है ॥ १२ ॥ अमात्य आदि का कोप सब कोपों में बड़ा होता है ॥ १३ ॥

अविनीत स्वामी के प्राप्त होने की अपेक्षा, स्वामी का न मिलना श्रेयस्कर है
॥ १४ ॥ अपने आपको सर्व-सम्पन्न बना लेने के बाद ही सहायकों की इच्छा करनी
चाहिए ॥ १५ ॥ सहायकहीन व्यक्ति के विचार अनिश्चित होते हैं ॥ १६ ॥ एक
पहिये से गाड़ी को नहीं चलाया जा सकता ॥ १७ ॥ सहायक वही है, जो अपने
सुख-दुःख में सदा साथ रहे ॥ १८ ॥

मनस्वी राजा को चाहिए कि वह, अपने समान दूसरे मनस्वी व्यक्ति को ही
अपना सलाहकार नियुक्त करे ॥ १९ ॥ विनयहीन व्यक्ति को, एकमात्र स्नेह के
कारण, कभी भी सलाह के समय सम्मिलित नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥ बहुश्रुत
एवं सब तरह से परीक्षित व्यक्ति को ही मन्त्री नियुक्त करना चाहिए ॥ २१ ॥ समस्त

॥ २३ ॥ मन्त्रविस्त्रावी कार्यं नाशयति ॥ २४ ॥ प्रमादाद् द्विषता वशमुप-
यास्यति ॥ २५ ॥ सर्वद्वारेभ्यो मन्त्रो रक्षितव्यः ॥ २६ ॥ मन्त्रसम्पदा
राज्यं वर्धते ॥ २७ ॥ श्रेष्ठतमां मन्त्रगुप्तिमाहुः ॥ २८ ॥ कार्यान्धस्य
प्रदीपो मन्त्रः ॥ २९ ॥ मन्त्रचक्षुषा परिच्छिद्वाण्यवलोकयन्ति ॥ ३० ॥

मन्त्रकाले न मत्सरः कर्तव्यः ॥ ३१ ॥ त्रयाणामेकवाक्ये सम्प्रत्ययः
॥ ३२ ॥ कार्याकार्यतत्त्वार्थदर्शिनो मन्त्रिणः ॥ ३३ ॥ षट्कणद् भिद्यते
मन्त्रः ॥ ३४ ॥

आपत्सु स्नेहसंयुक्तं मित्रम् ॥ ३५ ॥ मित्रसंग्रहणे बलं संपद्यते ॥ ३६ ॥
बलवानलब्धलाभे प्रयतते ॥ ३७ ॥ अलब्धलाभो नालसस्य ॥ ३८ ॥
अलसस्य लब्धमपि रक्षितुं न शक्यते ॥ ३९ ॥ न चालसस्य रक्षितं विवर्धते
॥ ४० ॥ न भृत्यान् प्रेषयति ॥ ४१ ॥

अलब्धलाभादिचतुष्टयं राज्यतन्त्रम् ॥ ४२ ॥ राज्यतन्त्रायत्तं नीति-
शास्त्रम् ॥ ४३ ॥ राज्यतन्त्रेष्वायत्तौ तन्त्रावापौ ॥ ४४ ॥ तन्त्रं स्वविषय-
कृत्येष्वायत्तम् ॥ ४५ ॥ आवापो मण्डलनिविष्टः ॥ ४६ ॥ सन्धिविग्रह-

कार्य-व्यापार मन्त्र पर ही निर्भर है ॥ २२ ॥ मन्त्र की रक्षा करने से ही कार्य की
सिद्धि होती है ॥ २३ ॥ मन्त्र का भेद खोल देने वाला व्यक्ति कार्य को नष्ट कर देता
है ॥ २४ ॥ प्रमाद करने से (व्यक्ति) शत्रु के वश में चला जाता है ॥ २५ ॥ इस-
लिए सभी प्रकार से मन्त्र की रक्षा करनी चाहिए ॥ २६ ॥ मन्त्र की सुरक्षा से राज्य
की संवृद्धि होती है ॥ २७ ॥ मन्त्र को गुप्त रखना बड़े महत्त्व की बात है ॥ २८ ॥
कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित राजा के लिए मन्त्र दीपक के तुल्य है ॥ २९ ॥
मन्त्ररूपी आँखों से राजा अपने शत्रु के दोषों को देख लेता है ॥ ३० ॥

मन्त्र के समय ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए ॥ ३१ ॥ तीन व्यक्तियों की एक राय
होने पर किसी विषय का निश्चय किया जा सकता है ॥ ३२ ॥ कार्य और अकार्य की
वास्तविकता को देखने वाले मन्त्री होते हैं ॥ ३३ ॥ छह कानों में जाते ही मन्त्र का
भेद प्रकट हो जाता है ॥ ३४ ॥

जो व्यक्ति आपत्ति के समय, स्नेह से अपने साथ बना रहे, वही मित्र है ॥ ३५ ॥
अधिक मित्रों के बना लेने से अपना बल बढ़ जाता है ॥ ३६ ॥

बलवान् व्यक्ति अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए यत्न करता है ॥ ३७ ॥ आलसी
व्यक्ति अप्राप्त वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है ॥ ३८ ॥ यदि कदाचित् उसको प्राप्त
हो जाये तो वह उसकी रक्षा नहीं कर पाता ॥ ३९ ॥ उसके द्वारा रक्षित वस्तु बढ़ती
नहीं है ॥ ४० ॥ न वह अपने भृत्यवर्ग को ही वितरित करता है ॥ ४१ ॥

अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्ति का संरक्षण, संरक्षित का संवर्द्धन और संवर्द्धित का
वितरण—ये चार ही राज्य के सर्वस्व हैं ॥ ४२ ॥ राज्यतन्त्र (राजस्थिति) का
आधार नीतिशास्त्र है ॥ ४३ ॥ तन्त्र और आवाप राज्यतन्त्र के अधीन होते हैं

योनिर्मण्डलः ॥ ४७ ॥ नीतिशास्त्रानुगो राजा ॥ ४८ ॥ अनन्तरप्रकृतिः शत्रुः ॥ ४९ ॥ एकान्तरितं मित्रमिष्यते ॥ ५० ॥ हेतुतः शत्रुमित्रे भविष्यतः ॥ ५१ ॥ होयमानः सन्धि कुर्वीत ॥ ५२ ॥ तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थानाम् ॥ ५३ ॥ नातप्तलोहो लोहेन संधीयते ॥ ५४ ॥

बलवान् हीनेन विगृह्णीयात् ॥ ५५ ॥ न ज्यायसा समेन वा ॥ ५६ ॥ गजपादयुद्धमिव बलवद्विग्रहः ॥ ५७ ॥ आमपात्रमामेन सह विनश्यति ॥ ५८ ॥ अरिप्रयत्नमभिसमीक्षेत ॥ ५९ ॥ सन्धायैकतो वा ॥ ६० ॥

अमित्रविरोधादात्मरक्षामावसेत् ॥ ६१ ॥

शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् ॥ ६२ ॥ दुर्बलाश्रयो दुःखमावहति ॥ ६३ ॥ अग्निवद्राजानमाश्रयेत् ॥ ६४ ॥ राज्ञः प्रतिकूलं नाचरेत् ॥ ६५ ॥ उद्धत-वेषधरो न भवेत् ॥ ६६ ॥ न देवचरितं चरेत् ॥ ६७ ॥

॥ ४४ ॥ अपने देश में सामदामादि उपायों का प्रयोग ही 'आयत्त' कहलाता है ॥ ४५ ॥ बाहरी राज्यमण्डल में प्रयुक्त सामदामादि उपायों को ही 'आवाप' कहते हैं ॥ ४६ ॥ सन्धि और विग्रह का निर्णय मण्डल पर निर्भर होता है ॥ ४७ ॥ राजा उसको कहते हैं, जो नीति शास्त्र के अनुसार राज्य का संचालन करे ॥ ४८ ॥ अपने देश से जुड़ी हुई राज्य-सीमा का राजा अपना शत्रु है ॥ ४९ ॥ एक राज्य के बाद अगला राजा अपना मित्र है ॥ ५० ॥ किसी कारणवश ही कोई राजा शत्रु या मित्र बनता है ॥ ५१ ॥ कमजोर को सन्धि कर लेनी चाहिए ॥ ५२ ॥ तेज से ही कार्य-सिद्धि होती है ॥ ५३ ॥ ठंडा लोहा गरम लोहे से नहीं जुड़ता है ॥ ५४ ॥

बलवान् राजा को चाहिए कि वह दुर्बल राजा से भगड़ा कर ले ॥ ५५ ॥ अपने से बड़े या बराबर वाले के साथ भगड़ा न करे ॥ ५६ ॥ बलवान् के साथ किया गया विग्रह वैसा ही होता है, जैसे गज-सैन्य से पदाति-सैन्य का मुकाबला ॥ ५७ ॥ कच्चा वर्तन, कच्चे वर्तन के साथ भिड़कर टूट जाता है । इसलिए बराबर वाले के साथ भी लड़ाई नहीं करनी चाहिए ॥ ५८ ॥ शत्रु के प्रयत्न का सदा भलीभाँति निरीक्षण करते रहना चाहिए ॥ ५९ ॥ अनेक शत्रु होने पर एक शत्रु से संधि कर लेनी चाहिए ॥ ६० ॥

शत्रु के विरोध को भली प्रकार तजबीजना चाहिए ; या तो अनेक शत्रु होने पर, एक शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए । शत्रु के द्वारा किये जाने वाले विरोध से अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ६१ ॥

शक्तिहीन राजा को चाहिये कि वह बलवान् का आश्रय ले ले ॥ ६२ ॥ दुर्बल का आश्रय लेने वाला राजा सदा दुःख उठाता है ॥ ६३ ॥ आश्रयी राजा के समीप उसी प्रकार रहना चाहिए, जैसे आग के समीप रहा जाता है ॥ ६४ ॥ राजा के प्रतिकूल कभी भी आचरण न करे ॥ ६५ ॥ उद्धत वेश धारण न करे ॥ ६६ ॥ देवताओं के चरित्र की नकल न करे ॥ ६७ ॥

द्वयोरपीर्ष्यतोर्द्वेधीभावं कुर्वीत ॥ ६८ ॥

न व्यसनपरस्य कार्यावाप्तिः ॥ ६९ ॥ इन्द्रियवशवर्तो चतुरङ्गवानपि विनश्यति ॥ ७० ॥ नास्ति कार्यं द्यूतप्रवृत्तस्य ॥ ७१ ॥ मृगयापरस्य धर्माथौ विनश्यतः ॥ ७२ ॥ अर्थेषणा न व्यसनेषु गण्यते ॥ ७३ ॥ न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ॥ ७४ ॥ अग्निदाहादपि विशिष्टं वाक्पारुष्यम् ॥ ७५ ॥ दण्डपारुष्यात् सर्वजनद्वेष्यो भवति ॥ ७६ ॥ अर्थतोषिणं श्रीः परित्यजति ॥ ७७ ॥

अमित्रो दण्डनीत्यामायत्तः ॥ ७८ ॥ दण्डनीतिमधितिष्ठन् प्रजाः संरक्षति ॥ ७९ ॥ दण्डः सम्पदा योजयति ॥ ८० ॥ दण्डाभावे मन्त्रिवर्गभावः ॥ ८१ ॥ न दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति ॥ ८२ ॥ दण्डनीत्यामायत्तमात्मरक्षणम् ॥ ८३ ॥ आत्मनि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति ॥ ८४ ॥ आत्मायत्तौ वृद्धि-विनाशौ ॥ ८५ ॥ दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते ॥ ८६ ॥ दुर्बलोऽपि राजा नावमन्तव्यः ॥ ८७ ॥ नास्त्यग्नेदौर्बल्यम् ॥ ८८ ॥

दण्डे प्रतीयते वृत्तिः ॥ ८९ ॥ वृत्तिमूलमर्थलाभः ॥ ९० ॥ अर्थमूलौ

अपने से वैर रखने वाले दो राजाओं के बीच फूट डाल दे ॥ ६८ ॥

व्यसनों के चंगुल में पड़े हुए राजा की कभी भी कार्यसिद्धि नहीं होती ॥ ६९ ॥ इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ राजा, चतुरंग सेना के होने पर भी, विनष्ट हो जाता है ॥ ७० ॥ जुये में फँसे हुए राजा की कार्यसिद्धि नहीं होती ॥ ७१ ॥ शिकार में व्यसन रखने वाले राजा के धर्म और अर्थ दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥ ७२ ॥ अर्थ की अभिलाषा को व्यसन में नहीं गिना जाता ॥ ७३ ॥ कामासक्त राजा का कोई कार्य नहीं बन पाता ॥ ७४ ॥ वाणी की कठोरता अग्निदाह से भी बढ़ कर होती है ॥ ७५ ॥ कठोर दण्ड वाला राजा समस्त प्रजा का शत्रु हो जाता है ॥ ७६ ॥ अर्थतोषी राजा को लक्ष्मी छोड़ देती है ॥ ७७ ॥

शत्रु को वश में करना दण्डनीति पर निर्भर है ॥ ७८ ॥ दण्डनीति का आश्रय लेता हुआ राजा समस्त प्रजा की रक्षा करता है ॥ ७९ ॥ दण्ड से सम्पत्ति बढ़ती है ॥ ८० ॥ दण्डशक्ति के अभाव में मन्त्रिसमूह विच्छिन्न हो जाता है ॥ ८१ ॥ दण्डशक्ति के कारण वे लोग न करने योग्य कार्यों को नहीं करते हैं ॥ ८२ ॥ अपनी सुरक्षा भी दण्डनीति पर निर्भर है ॥ ८३ ॥ अपनी सुरक्षा किये जाने के बाद ही दूसरे की रक्षा की जा सकती है ॥ ८४ ॥ उत्थान और विनाश, दोनों अपने ही हाथों में हैं ॥ ८५ ॥ भली-भाँति सोच-विचार करके दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए ॥ ८६ ॥ किसी राजा को दुर्बल समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ८७ ॥ अग्नि को कौन दुर्बल कह सकता है ॥ ८८ ॥

दण्ड के आधार पर ही व्यवहार का ज्ञान होता है ॥ ८९ ॥ अर्थ की प्राप्ति

धर्मकामौ ॥ ९१ ॥ अर्थमूलं कार्यम् ॥ ९२ ॥ यदल्पप्रयत्नात् कार्यसिद्धि-
भवति ॥ ९३ ॥ उपायपूर्वं न दुष्करं स्यात् ॥ ९४ ॥ अनुपायपूर्वं कार्यं
कृतमपि नश्यति ॥ ९५ ॥ कार्यार्थिनामुपाय एव सहायः ॥ ९६ ॥ कार्यं
पुरुषकारेण लक्ष्यं सम्पद्यते ॥ ९७ ॥ पुरुषकारमनुवर्तते दैवम् ॥ ९८ ॥
दैवं विनाऽतिप्रयत्नं करोति यत् तद् विफलम् ॥ ९९ ॥ असमाहितस्य
वृत्तिर्न विद्यते ॥ १०० ॥

पूर्वं निश्चित्य पश्चात् कार्यमारभेत ॥ १०१ ॥ कार्यान्तरे दीर्घसूत्रता
न कर्तव्या ॥ १०२ ॥ न चलचित्तस्य कार्यावाप्तिः ॥ १०३ ॥ हस्तगता-
वमाननात् कार्यव्यतिक्रमो भवति ॥ १०४ ॥ दोषवर्जितानि कार्याणि दुर्ल-
भानि ॥ १०५ ॥ दुरनुबन्धं कार्यं नारभेत ॥ १०६ ॥

कालवित् कार्यं साधयेत् ॥ १०७ ॥ कालातिक्रमात् काल एव फलं
पिबति ॥ १०८ ॥ क्षणं प्रति कालविक्षेपं न कुर्यात् सर्वकृत्येषु ॥ १०९ ॥
देशफलविभागौ ज्ञात्वा कार्यमारभेत ॥ ११० ॥ दैवहीनं कार्यं सुसाधमपि
दुःसाधं भवति ॥ १११ ॥

नीतिज्ञो देशकालौ परीक्षेत ॥ ११२ ॥ परीक्ष्यकारिणि श्रीश्वरं

व्यवहारमूलक है ॥ ९० ॥ धर्म और काम अर्थमूलक होते हैं ॥ ९१ ॥ कार्य ही अर्थ
का मूल है ॥ ९२ ॥ इसी से थोड़ा भी प्रयत्न करने पर कार्य की सिद्धि हो जाती है
॥ ९३ ॥ उपाय से किया जाने वाला कोई भी कार्य कठिन नहीं होता ॥ ९४ ॥ जो कार्य
उपाय से नहीं किया जाता वह किया कराया भी नष्ट हो जाता है ॥ ९५ ॥ कार्य-
सिद्धि चाहने वाले लोगों के लिए उपाय ही परम सहायक है ॥ ९६ ॥ पुरुषार्थ से कार्य
को लक्ष्य बनाया जा सकता है ॥ ९७ ॥ भाग्य भी पुरुषार्थ का अनुगमन करता
है ॥ ९८ ॥ भाग्य के बिना, बड़े प्रयत्न से किया गया कार्य भी विफल हो जाता
है ॥ ९९ ॥ असावधान व्यक्ति में व्यवहारकुशलता नहीं होती ॥ १०० ॥

निश्चय करने के बाद ही कार्य को आरम्भ करे ॥ १०१ ॥ एक के बाद दूसरे
कार्य को करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए ॥ १०२ ॥ चंचल चित्त वाले व्यक्ति
की कार्यसिद्धि नहीं होती ॥ १०३ ॥ हाथ में आयी हुई वस्तु का तिरस्कार कर देने
पर काम बिगड़ जाता है ॥ १०४ ॥ विरले ही ऐसे कार्य हैं, जो दोषरहित हों ॥ १०५ ॥
दुःखपूर्ण तथा कष्टसाध्य कार्यों को आरम्भ ही नहीं करना चाहिए ॥ १०६ ॥

समय की गति-विधि जानने वाला व्यक्ति कार्य को सिद्ध करे ॥ १०७ ॥ कार्य
की अवधि बीत जाने पर काल ही उस कार्य के फल को पी जाता है ॥ १०८ ॥
अतः किसी भी कार्य में क्षण-भर का विलम्ब न करे ॥ १०९ ॥ देश और फल का
विवेचन करके ही कार्य का आरंभ करे ॥ ११० ॥ दैव के विपरीत होने पर सरल
कार्य भी कठिन हो जाता है ॥ १११ ॥

नीतिज्ञ व्यक्ति को चाहिये कि वह देश-काल का भलीभाँति विचार कर

तिष्ठति ॥ ११३ ॥ सर्वाश्च सम्पदः सर्वोपायेन परिग्रहेत् ॥ ११४ ॥ भाग्य-
घन्तमपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥ ११५ ॥ ज्ञानानुमानंश्च परीक्षा
कर्तव्या ॥ ११६ ॥

यो यस्मिन् कर्मणि कुशलस्तं तस्मिन्नेव योजयेत् ॥ ११७ ॥ दुःसाध-
मपि सुसाधं करोत्युपायज्ञः ॥ ११८ ॥ अज्ञानिना कृतमपि न बहु मन्त-
व्यम् ॥ ११९ ॥ यादृच्छिकत्वात् कृमिरपि रूपान्तराणि करोति ॥ १२० ॥
सिद्धस्यैव कार्यस्य प्रकाशनं कर्तव्यम् ॥ १२१ ॥

ज्ञानवतामपि दैवमानुषदोषात् कार्याणि दुष्यन्ति ॥ १२२ ॥ दैवं
शान्तिकर्मणा प्रतिषेद्धव्यम् ॥ १२३ ॥ मानुषीं कार्यविपत्तिं कौशलेन विनि-
वारयेत् ॥ १२४ ॥ कार्यविपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशाः ॥ १२५ ॥

कार्यार्थिना दाक्षिण्यं न कर्तव्यम् ॥ १२६ ॥ क्षीरार्थी वत्सो मातुरुधः
प्रतिहन्ति ॥ १२७ ॥ अप्रयत्नात् कार्यविपत्तिर्भवेत् ॥ १२८ ॥ न दैव-
प्रमाणानां कार्यसिद्धिः ॥ १२९ ॥ कार्यबाह्यो न पोषयत्याश्रितान् ॥ १३० ॥
यः कार्यं न पश्यति सोऽन्धः ॥ १३१ ॥ प्रत्यक्षपरोक्षानुमानैः कार्याणि
परीक्षेत ॥ १३२ ॥ अपरीक्ष्यकारिणं श्रीः परित्यजति ॥ १३३ ॥ परीक्ष्य

ले ॥ ११२ ॥ विचारशील व्यक्ति के पास लक्ष्मी चिरकाल तक बनी रहती है ॥ ११३ ॥
सामदामादि सब उपायों के द्वारा सभी प्रकार की सम्पत्ति का संचय करे ॥ ११४ ॥
भाग्यशाली होने पर भी अविचारशील व्यक्ति को लक्ष्मी छोड़ देती है ॥ ११५ ॥
प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा प्रत्येक वस्तु की परीक्षा करनी चाहिए ॥ ११६ ॥

जो जिस कार्य को करने में निपुण हो उसको उसी कार्य में नियुक्त करना
चाहिए ॥ ११७ ॥ उपायों को जानने वाला व्यक्ति कठिन कार्य को भी सहज बना
देता है ॥ ११८ ॥ अज्ञानी व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य को अधिक महत्त्व नहीं
देना चाहिए ॥ ११९ ॥ कभी-कभी एक साधारण कीड़ा भी रूप बदल लेता है ॥ १२० ॥
जो कार्य संपन्न हो गया हो उसको ही प्रमाणित किया जाना चाहिए ॥ १२१ ॥

विज्ञ पुरुषों के भी कार्य दैवदोष तथा मानुषदोषों से दूषित (असफल) हो
जाते हैं ॥ १२२ ॥ शांति-कर्मों के अनुष्ठान द्वारा दैव का प्रतीकार करना चाहिए ॥ १२३ ॥
मानुष-विपत्तियों का निवारण अपने कौशल से करना चाहिए ॥ १२४ ॥ किसी कार्य
में विपत्ति के आ जाने पर मूर्ख व्यक्ति उसमें दोष दिखाते हैं ॥ १२५ ॥

कार्यसिद्धि के आकांक्षी व्यक्ति को चाहिए कि वह भोला भाला न बना रहे
॥ १२६ ॥ बछड़ा भी दूध के लिए माता के अयनों (दूध) पर आघात करता है
॥ १२७ ॥ प्रयत्न न करने पर निश्चित ही कार्यों में विपत्ति आ जाती है ॥ १२८ ॥
दैव को प्रमाण मानने वाले की कभी भी कार्यसिद्धि नहीं होती ॥ १२९ ॥ कार्य से
पृथक् रहने वाला व्यक्ति अपने आश्रितों का पोषण नहीं कर सकता ॥ १३० ॥ जो
जो अपने कार्यों को नहीं देखता वह अंधा है ॥ १३१ ॥ प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान

तार्या विपत्तिः ॥ १३४ ॥ स्वशक्तिं ज्ञात्वा कार्यमारभेत ॥ १३५ ॥ स्वजनं तर्पयित्वा यः शेषभोजी सोऽमृतभोजी ॥ १३६ ॥ सर्वानुष्ठानादायमुखानि वर्धन्ते ॥ १३७ ॥

नास्ति भीरोः कार्यचिन्ता ॥ १३८ ॥

स्वामिनः शीलं ज्ञात्वा कार्यार्थी कार्यं साधयेत् ॥ १३९ ॥ घेनोः शीलज्ञः क्षीरं भुङ्क्ते ॥ १४० ॥

क्षुब्धे गुह्यप्रकाशनमात्मवान् न कुर्यात् ॥ १४१ ॥ आश्रितैरप्यवमन्यते मृदुस्वभावः ॥ १४२ ॥ तीक्ष्णदण्डः सर्वैरुद्वेजनीयो भवति ॥ १४३ ॥ यथार्हदण्डकारी स्यात् ॥ १४४ ॥ अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न बहु मन्यते लोकः ॥ १४५ ॥ अतिभारः पुरुषमवसादयति ॥ १४६ ॥

यः संसदि परदोषं शंसति स स्वदोषं प्रख्यापयति ॥ १४७ ॥ आत्मानमेव नाशयत्यनात्मवतां कोपः ॥ १४८ ॥

नास्त्यप्राप्यं सत्यवताम् ॥ १४९ ॥ साहसेन न कार्यसिद्धिर्भवति

प्रमाणों से कार्यों की परीक्षा करनी चाहिए ॥ १३२ ॥ बिना विचारे कार्य करने वाले पुरुष को लक्ष्मी छोड़ देती है ॥ १३३ ॥ भली-भाँति विचार करके विपत्ति को दूर करना चाहिए ॥ १३४ ॥ अपनी शक्ति का अन्दाजा लगा कर ही किसी कार्य को आरम्भ करना चाहिए ॥ १३५ ॥ स्वजनों (पारिवारिक तथा भृत्य) को भर पेट भोजन कराके जो अवशिष्ट अन्न को खाता है वह अमृत को खाता है ॥ १३६ ॥ सब तरह के कार्यों को करने से आमदनी के रास्ते खुल जाते हैं ॥ १३७ ॥

कामचोर या अनुद्यमी व्यक्ति को अपने कार्यों की कोई चिन्ता नहीं होती ॥ १३८ ॥

कार्यार्थी को चाहिए कि वह अपने स्वामी के स्वभाव को जान कर ही कार्य को सफल बनाये ॥ १३९ ॥ जो व्यक्ति गाय के स्वभाव से परिचित होता है, वही उसके दूध का उपभोग करता है ॥ १४० ॥

विचारवान् व्यक्ति को चाहिए कि वह क्षुब्ध विचार के व्यक्तियों पर अपनी गुह्य बातों को प्रकट न करे ॥ १४१ ॥ सरल स्वभाव के राजा का उसके आश्रित व्यक्ति ही तिरस्कार कर देते हैं ॥ १४२ ॥ तीव्र स्वभाव के राजा से सभी व्यक्ति बेचैन रहते हैं ॥ १४३ ॥ अतः राजा ऐसा होना चाहिए, जो उचित दण्ड का निर्धारण करे ॥ १४४ ॥ शास्त्रज्ञ, किन्तु दुर्बल राजा का प्रजा अधिक सम्मान नहीं करती ॥ १४५ ॥ अधिक भार पुरुष को खिन्न कर देता है ॥ १४६ ॥

जो व्यक्ति सभास्थल पर किसी दूसरे व्यक्ति के अवगुणों का प्रख्यापन करने की चेष्टा करता है वह प्रकारान्तर से अपनी ही अयोग्यता का परिचय देता है ॥ १४७ ॥ स्वयं को वश में न रखने वाले क्रोधी पुरुष को उसका क्रोध ही नष्ट कर डालता है ॥ १४८ ॥

सत्य का आचरण करने वाले व्यक्ति के लिए दुर्लभ कुछ नहीं है ॥ १४९ ॥

॥ १५० ॥ व्यसनातो विस्मरत्यप्रवेशेन ॥ १५१ ॥ नास्त्यनन्तरायः काल-
विक्षेपे ॥ १५२ ॥ असंशयविनाशात् संशयविनाशः श्रेयान् ॥ १५३ ॥

परधनानि निक्षेप्तुः केवलं स्वार्थम् ॥ १५४ ॥

दानं धर्मः ॥ १५५ ॥ नायगितोऽर्थवद् विपरीतोऽनर्थभावः ॥ १५६ ॥
यो धर्माथौ न विवर्धयति स कामः ॥ १५७ ॥ तद्विपरीतोऽनर्थसेवी ॥ १५८ ॥

ऋजुस्वभावपरो जनेषु दुर्लभः ॥ १५९ ॥ अवमानेनागतमैश्वर्यमव-
मन्यते साधुः ॥ १६० ॥ बहूनपि गुणानेको दोषो ग्रसति ॥ १६१ ॥ महा-
त्मना परेण साहसं न कर्तव्यम् ॥ १६२ ॥ कदाचिदपि चरित्रं न लङ्घयेत्
॥ १६३ ॥ क्षुधातो न तृणं चरति सिंहः ॥ १६४ ॥ प्राणादपि प्रत्ययो
रक्षितव्यः ॥ १६५ ॥ पिशुनः श्रोता पुत्रदारैरपि त्यज्यते ॥ १६६ ॥

बालादप्यर्थजातं शृणुयात् ॥ १६७ ॥ सत्यमप्यश्रद्धेयं न वदेत् ॥ १६८ ॥
नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते ॥ १६९ ॥ विपश्चित्स्वपि सुलभा दोषाः
॥ १७० ॥ नास्ति रत्नमखण्डितम् ॥ १७१ ॥ मर्यादातीतं न कदाचिदपि

केवल साहस से कार्य सिद्ध नहीं होते ॥ १५० ॥ विपत्तियों के टल जाने पर विपद्ग्रस्त
पुरुष विपत्तियों को भूल जाता है ॥ १५१ ॥ अवसर चूक जाने पर कार्यों में अवश्य
ही बाधा उपस्थित हो जाती है ॥ १५२ ॥ अवश्यभावी (असंशय) विनाश की
अपेक्षा संदिग्ध (संशययुक्त) विनाश अच्छा है ॥ १५३ ॥

किसी स्वार्थवश ही दूसरे के धन को अमानत पर रखा जाता है ॥ १५४ ॥

दान करना धर्म है ॥ १५५ ॥ वैश्य वृत्ति से किया हुआ यह धर्म (दान देना)
सफल नहीं होता । मनुष्य के लिए दान धर्म का न करना सर्वथा अनर्थकारी है
॥ १५६ ॥ जो, धर्म और अर्थ का अपकर्ष नहीं करता उसी को 'काम' कहा जाता
है ॥ १५७ ॥ धर्म और अर्थ के अपकर्षक काम के आसेवन से निश्चित ही अनर्थ
होता है ॥ १५८ ॥

मनुष्यों में ऐसा पुरुष दुर्लभ होता है, जो सर्वथा सरल स्वभाव का हो ॥ १५९ ॥
तिरस्कार से उपलब्ध ऐश्वर्य को, सत्पुरुष, ठुकरा देते हैं ॥ १६० ॥ अनेक गुणों को
एक ही दोष ग्रसित कर लेता है ॥ १६१ ॥ श्रेष्ठ धर्मात्मा शत्रु के साथ युद्ध नहीं
करना चाहिए ॥ १६२ ॥ सदाचार का उल्लंघन न करना चाहिए ॥ १६३ ॥ यद्यपि
सिंह भूखा हो तब भी तिनके नहीं खाता ॥ १६४ ॥ प्राणों की बलि देकर भी अपने
विश्वास की रक्षा करनी चाहिए ॥ १६५ ॥ चुगली करने और सुनने वाले पुरुष को
उसके स्त्री-पुत्र भी छोड़ देते हैं ॥ १६६ ॥

बालक की भी उचित बात को ग्रहण करना चाहिए ॥ १६७ ॥ ऐसी सच्चाई
नहीं बरतनी चाहिए, जिसका विश्वास ही न किया जा सके ॥ १६८ ॥ थोड़े से दोष
से बहुत सारे गुणों को नहीं छोड़ा जा सकता ॥ १६९ ॥ विद्वान् पुरुषों में भी दोष
का हो जाना संभव है ॥ १७० ॥ (उसी प्रकार जैसे) कोई भी रत्न समूचा नहीं

विश्वसेत् ॥ १७२ ॥ अप्रिये कृतं प्रियमपि द्वेष्यं भवति ॥ १७३ ॥ नम-
न्त्यपि तुलाकोटिः कूपोदकक्षयं करोति ॥ १७४ ॥

सतां मतं नातिक्रमेत् ॥ १७५ ॥ गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति
॥ १७६ ॥ क्षीराश्रितं जलं क्षीरमेव भवति ॥ १७७ ॥ मृत्पिण्डोऽपि पाटलि-
गन्धमुत्पादयति ॥ १७८ ॥ रजतं कनकसङ्गात् कनकं भवति ॥ १७९ ॥

उपकर्तर्यपकर्तुमिच्छत्यबुधः ॥ १८० ॥ न पापकर्मणामाक्रोशभयम्
॥ १८१ ॥ उत्साहवतां शत्रवोऽपि वशीभवन्ति ॥ १८२ ॥ विक्रमधना
राजानः ॥ १८३ ॥ नास्त्यलसस्यैहिकामुष्मिकम् ॥ १८४ ॥ निरुत्साहाद्
दैवं पतति ॥ १८५ ॥ मत्स्यार्थोव जलमुपयुज्यार्थं गृह्णीयात् ॥ १८६ ॥
अविश्वस्तेषु विश्वासो न कर्तव्यः ॥ १८७ ॥ विषं विषमेव सर्वकालम्
॥ १८८ ॥

अर्थसमादाने वैरिणां सङ्ग एव न कर्तव्यः ॥ १८९ ॥ अर्थसिद्धौ वैरिणं
न विश्वसेत् ॥ १९० ॥ अर्थाधीन एव नियतसम्बन्धः ॥ १९१ ॥ शत्रोरपि
सुतः सखा रक्षितव्यः ॥ १९२ ॥

होता ॥ १७१ ॥ मर्यादा से अधिक विश्वास कभी न करना चाहिए ॥ १७२ ॥ शत्रु
संबंध में किया गया अच्छा कार्य, बुरा ही समझा जाता है ॥ १७३ ॥ झुकती हुई
भी ढींकली की बल्ली कुएँ के जल को उलीच देती है ॥ १७४ ॥

श्रेष्ठ पुरुषों के अभिमत का अतिक्रमण न करना चाहिए ॥ १७५ ॥ गुणी पुरुष
के आश्रय से गुणहीन भी गुणी हो जाता है ॥ १७६ ॥ दूध में मिला हुआ जल भी
दूध ही हो जाता है ॥ १७७ ॥ मिट्टी का ढेला पाटलि पुष्प के संसर्ग से उसकी
गंध को उत्पन्न करता है ॥ १७८ ॥ चांदी भी, सोने के साथ मिलकर सोना ही हो
जाती है ॥ १७९ ॥

मूर्ख व्यक्ति उपकारक व्यक्ति का भी अपकार करना चाहता है ॥ १८० ॥ पाप-
कर्म करने वाले को निन्दा-भय नहीं होता ॥ १८१ ॥ उत्साही पुरुषों के शत्रु भी वश
में हो जाते हैं ॥ १८२ ॥ राजाओं का मुख्य धन है विक्रम (बल) ॥ १८३ ॥
आलसी व्यक्ति को न ऐहिक सुख प्राप्त होता है और न पारलौकिक ॥ १८४ ॥
उत्साहहीन होने पर भाग्य भी साथ नहीं देता ॥ १८५ ॥ उपयोग में आने योग्य अर्थ
को उसी प्रकार ग्रहण करना चाहिए, जैसे मछियारा मछली को ॥ १८६ ॥ अविश्वस्त
पुरुष पर कभी विश्वास न करना चाहिए ॥ १८७ ॥ विष तो प्रत्येक अवस्था में विष
ही रहता है ॥ १८८ ॥

अर्थ-संग्रह करते समय शत्रु को कदापि भी साथ न रखना चाहिए ॥ १८९ ॥
अर्थसिद्ध हो जाने पर भी शत्रु का विश्वास न करना चाहिए ॥ १९० ॥ नियत
सम्बन्ध अर्थ के ही अधीन होता है ॥ १९१ ॥ यदि शत्रु का भी पुत्र अपना मित्र हो
तो उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ १९२ ॥

यावच्छत्रोच्छिद्रं पश्यति तावद्धस्तेन वा स्कन्धेन वा बाह्यः ॥ १९३ ॥

शत्रुं छिद्रे प्रहरेत् ॥ १९४ ॥ आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥ १९५ ॥

छिद्रप्रहारिणः शत्रवः ॥ १९६ ॥ हस्तगतमपि शत्रुं न विश्वसेत् ॥ १९७ ॥

स्वजनस्य दुर्वृत्तं निवारयेत् ॥ १९८ ॥ स्वजनावमानोऽपि मनस्विनां दुःख-
मावहति ॥ १९९ ॥ एकाङ्गदोषः पुरुषमवसादयति ॥ २०० ॥

शत्रुं जयति सुवृत्तता ॥ २०१ ॥ निकृतिप्रिया नीचाः ॥ २०२ ॥

नीचस्य मतिर्न दातव्या ॥ २०३ ॥ तेषु विश्वासो न कर्तव्यः ॥ २०४ ॥

सुपूजितोऽपि दुर्जनः पीडयत्येव ॥ २०५ ॥ चन्दनादीनपि दावोऽग्निर्दह-
त्येव ॥ २०६ ॥

कदाऽपि पुरुषं नावमन्येत ॥ २०७ ॥ क्षन्तव्यमिति पुरुषं न बाधेत
॥ २०८ ॥

भर्त्राधिकं रहस्युक्तं वक्तुमिच्छन्त्यबुद्धयः ॥ २०९ ॥ अनुरागस्तु फलेन
सूच्यते ॥ २१० ॥ आज्ञाफलमैश्वर्यम् ॥ २११ ॥ दातव्यमपि बालिशः
परिवलेशेन दास्यति ॥ २१२ ॥ महदैश्वर्यं प्राप्याप्यधृतिमान् विनश्यति
॥ २१३ ॥ नास्त्यधृतेरैहिकामुष्मिकम् ॥ २१४ ॥

जब तक शत्रु के दोष या निर्बलता (छिद्र) का पता नहीं लग जाता तब तक उसको हाथ-कंधों पर रखना चाहिए ॥ १९३ ॥

जहाँ भी शत्रु की दुर्बलता दिखायी दे वहीं उस पर प्रहार करना चाहिये ॥ १९४ ॥ अपने दोष या अपनी दुर्बलता को कभी भी प्रकट नहीं करना चाहिए ॥ १९५ ॥ जो दोष या दुर्बलता पर प्रहार करते हैं उन्हें शत्रु समझना चाहिए ॥ १९६ ॥ अपनी मुट्ठी में भी आये हुए शत्रु का विश्वास न करना चाहिए ॥ १९७ ॥ स्वजनों के दुर्व्यवहार को रोकना चाहिए ॥ १९८ ॥ स्वजनों का अपमान भी श्रेष्ठ पुरुषों के लिए दुःखदायी होता है ॥ १९९ ॥ एक साधारण दोष भी पुरुष को नष्ट कर देता है ॥ २०० ॥

सद्व्यवहार से शत्रु को भी जीता जा सकता है ॥ २०१ ॥ नीच पुरुषों को अपमानित होना ही भला लगता है ॥ २०२ ॥ नीच पुरुष को कभी भी सुमति न देनी चाहिए ॥ २०३ ॥ उन पर विश्वास भी न करना चाहिए ॥ २०४ ॥ सत्कार किये जाने पर भी दुर्जन पीड़ा ही पहुँचाता है ॥ २०५ ॥ जंगल में लगी आग चन्दन आदि को भी जला ही लेती है ॥ २०६ ॥

किसी भी पुरुष का कभी भी तिरस्कार न करना चाहिए ॥ २०७ ॥ किसी भी पुरुष को कभी भी बाधित न करके क्षमा कर देना चाहिए ॥ २०८ ॥

एकान्त में कही गयी अपने मालिक की बात को, मूर्ख व्यक्ति, बड़ा-चढ़ा कर कहता है ॥ २०९ ॥ प्रेम का परिचय उसके फल से सूचित होता है ॥ २१० ॥ बुद्धि का ही फल ऐश्वर्य है ॥ २११ ॥ देने योग्य वस्तु को भी मूर्ख पुरुष बड़े कष्ट से दे

न दुर्जनैः सह संसर्गः कर्तव्यः ॥ २१५ ॥ शौण्डहस्तगतं पयोऽप्यव-
मन्येत ॥ २१६ ॥ कार्यसंकटेष्वर्थव्यवसायिनी बुद्धिः ॥ २१७ ॥

मितभोजनं स्वास्थ्यम् ॥ २१८ ॥ पथ्यमपथ्यं वाऽजीर्णं नाश्नीयात्
॥ २१९ ॥ जीर्णभोजनं व्याधिर्नोपसर्पति ॥ २२० ॥ जीर्णशरीरे वर्धमानं
व्याधिं नोपेक्षेत ॥ २२१ ॥ अजीर्णं भोजनं दुःखम् ॥ २२२ ॥ शत्रोरपि
विशिष्यते व्याधिः ॥ २२३ ॥

दानं निधानमनुगामि ॥ २२४ ॥ पटुतरे तृष्णापरे सुलभमतिसन्धानम्
॥ २२५ ॥ तृष्णया मतिश्छाद्यते ॥ २२६ ॥ कार्यबहुत्वे बहुफलमायतिकं
कुर्यात् ॥ २२७ ॥ स्वयमेवावस्कन्नं कार्यं निरीक्षेत ॥ २२८ ॥

मूर्खेषु साहसं नियतम् ॥ २२९ ॥ मूर्खेषु विवादो न कर्तव्यः ॥ २३० ॥
मूर्खेषु मूर्खवत्कथयेत् ॥ २३१ ॥ आयसैरायसं छेद्यम् ॥ २३२ ॥ नास्त्य-
धीमतः सखा ॥ २३३ ॥

पाता है ॥ २१२ ॥ धैर्यहीन व्यक्ति महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करने पर भी नष्ट हो
जाता है ॥ २१३ ॥ धैर्यहीन पुरुष को न तो ऐहिक सुख प्राप्त होता है और न पार-
लौकिक ॥ २१४ ॥

दुर्जन की संगति न करनी चाहिए ॥ २१५ ॥ कलाल के हाथ में यदि दूध भी
हो तो उसकी कद्र नहीं होती ॥ २१६ ॥ कार्यों में संकट उपस्थित हो जाने पर जो
बुद्धि अर्थ का निश्चय करती है, वही वास्तविक बुद्धि है ॥ २१७ ॥

परिमित भोजन करना ही स्वास्थ्य का लक्षण है ॥ २१८ ॥ अजीर्ण (बदहजमी)
होने पर पथ्य या अपथ्य कुछ भी न खाना चाहिए ॥ २१९ ॥ एक बार का भोजन
पच जाने के बाद जो भोजन करता है उसको कोई भी व्याधि नहीं लगती ॥ २२० ॥
वृद्ध शरीर में बढ़ती हुई व्याधि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ २२१ ॥ अजीर्णा-
वस्था में भोजन करना दुःखदायी होता है ॥ २२२ ॥ व्याधि शत्रु से भी बढ़कर कष्ट-
कर होती है ॥ २२३ ॥

जैसा कोष हो वैसा ही दान दिया जाना चाहिए ॥ २२४ ॥ अति तृष्णा
वाले व्यक्ति को वश में कर लेना आसान होता है ॥ २२५ ॥ तृष्णा, बुद्धि को ढक लेती
है ॥ २२६ ॥ अनेक कार्यों के उपस्थित हो जाने पर उसी कार्य को पहले करना
चाहिए, जो भविष्य में अधिक फल देने वाला है ॥ २२७ ॥ आक्रमण आदि के कार्य
का राजा को स्वयमेव निरीक्षण करना चाहिए ॥ २२८ ॥

मूर्खों में लड़ाई-भगड़ा करने का मादा (साहस) अवश्य होता है ॥ २२९ ॥
मूर्खों से विवाद न करना चाहिए ॥ २३० ॥ मूर्खों के साथ मूर्ख की तरह कहना
चाहिए ॥ २३१ ॥ लोहे को लोहे से ही काटा जा सकता है ॥ २३२ ॥ बुद्धिहीन
व्यक्ति का कोई मित्र नहीं होता ॥ २३३ ॥

धर्मेण धार्यते लोकः ॥ २३४ ॥ प्रेतमपि धर्माधर्माविनुगच्छतः ॥ २३५ ॥
 दया धर्मस्य जन्मभूमिः ॥ २३६ ॥ धर्ममूले सत्यदाने ॥ २३७ ॥ धर्मेण
 जयति लोकान् ॥ २३८ ॥ मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति ॥ २३९ ॥ धर्माद्वि-
 परीतं पापं यत्र प्रसज्यते तत्र धर्माविमतिर्महती प्रसज्यते ॥ २४० ॥ उप-
 स्थितविनाशानां प्रकृत्या कारणेण कार्येण लक्ष्यते ॥ २४१ ॥ आत्मविनाशं
 सूचयत्यधर्मबुद्धिः ॥ २४२ ॥ पिशुनवादिनो न रहस्यम् ॥ २४३ ॥ पर-
 रहस्यं नैव श्रोतव्यम् ॥ २४४ ॥ वल्लभस्य कारकत्वमधर्मयुक्तम् ॥ २४५ ॥

स्वजनेष्वतिक्रमो न कर्तव्यः ॥ २४६ ॥ माताऽपि दुष्टा त्याज्या
 ॥ २४७ ॥ स्वहस्तोऽपि विषदिग्धश्छेद्यः ॥ २४८ ॥ परोऽपि च हितो बन्धुः
 ॥ २४९ ॥ कक्षादप्यौषधं गृह्यते ॥ २५० ॥ नास्ति चोरेषु विश्वासः
 ॥ २५१ ॥ अप्रतीकारेष्वनादरो न कर्तव्यः ॥ २५२ ॥ व्यसनं मनागपि
 बाधते ॥ २५३ ॥

अमरवदर्थजातमर्जयेत् ॥ २५४ ॥ अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुमतः
 ॥ २५५ ॥ महेन्द्रमप्यर्थहीनं न बहु मन्यते लोकः ॥ २५६ ॥ दारिद्र्यं खलु
 पुरुषस्य जीवितं मरणम् ॥ २५७ ॥ विरूपोऽर्थवान् सुरूपः ॥ २५८ ॥
 अदातारमप्यर्थवन्तमर्थिनो न त्यजन्ति ॥ २५९ ॥ अकुलीनोऽपि धनी

धर्म ही संसार को धारण किये हुए है ॥ २३४ ॥ धर्म और अधर्म दोनों मृत
 पुरुष के साथ जाते हैं ॥ २३५ ॥ दया ही धर्म की जन्मभूमि है ॥ २३६ ॥ राज्य
 और दान धर्ममूलक होते हैं ॥ २३७ ॥ धर्म के द्वारा प्राणियों को जीता जा सकता
 है ॥ २३८ ॥ मृत्यु भी धर्मात्मा पुरुष की रक्षा करती है ॥ २३९ ॥ जहाँ-जहाँ धर्म
 के विरुद्ध पाप का प्रसार होता है वहाँ-वहाँ धर्म का बड़ा अपकार होता है ॥ २४० ॥
 स्वभाव या कार्य से आसन्न विनाश की परिस्थिति को जाना जाता है ॥ २४१ ॥
 अधर्मबुद्धि ही अधर्मात्मा के विनाश की सूचना दे देती है ॥ २४२ ॥ चुगुलखोर व्यक्ति की
 बात छिपी नहीं रहती ॥ २४३ ॥ दूसरे की गुप्त बात को न सुनना चाहिए ॥ २४४ ॥
 स्वामी का कठोर होना अधर्मयुक्त है ॥ २४५ ॥

स्वजनों का अतिक्रमण न करना चाहिए ॥ २४६ ॥ माता भी यदि दुष्ट हो तो
 उसको छोड़ देना चाहिए ॥ २४७ ॥ विष से भरा हुआ यदि अपना हाथ भी हो तो
 उसे काट देना चाहिए ॥ २४८ ॥ हित करने वाला बाहरी व्यक्ति भी अपना भाई है
 ॥ २४९ ॥ सूखे जंगल से भी औषधि को प्राप्त किया जा सकता है ॥ २५० ॥ चोरों
 पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥ २५१ ॥ बाधारहित कर्म के करने में उपेक्षा न
 करनी चाहिए ॥ २५२ ॥ थोड़ा भी व्यसन बड़ा कष्टकर होता है ॥ २५३ ॥

स्वयं को अमर समझ कर अर्थों का अर्जन करना चाहिए ॥ २५४ ॥ धनवान्
 व्यक्ति सबका मान्य होता है ॥ २५५ ॥ अर्थहीन इन्द्र को भी संसार बड़ा नहीं
 समझता ॥ २५६ ॥ पुरुष की दारिद्र्यता, जीवितावस्था में ही मृत्यु है ॥ २५७ ॥ कुरूप

कुलीनाद्विशिष्टः ॥ २६० ॥ नास्त्यवमानभयमनार्यस्य ॥ २६१ ॥ न चेतन-
वतां वृत्तिभयम् ॥ २६२ ॥ न जितेन्द्रियाणां विषयभयम् ॥ २६३ ॥ न
कृतार्थानां मरणभयम् ॥ २६४ ॥

कस्यचिदर्थं स्वमिव मन्यते साधुः ॥ २६५ ॥ परविभववेश्वादरो न
कर्तव्यः ॥ २६६ ॥ परविभवेष्वादरोऽपि नाशमूलम् ॥ २६७ ॥ पलालमपि
परद्रव्यं न हर्तव्यम् ॥ २६८ ॥ परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः ॥ २६९ ॥
न चौर्यात्परं मृत्युपाशः ॥ २७० ॥ यवागूरपि प्राणधारणं करोति काले
॥ २७१ ॥ न मृतस्यौषधं प्रयोजनम् ॥ २७२ ॥ समकाले स्वयमपि प्रभु-
त्वस्य प्रयोजनं भवति ॥ २७३ ॥

नीचस्य विद्याः पापकर्मणि योजयन्ति ॥ २७४ ॥ पयःपानमपि विष-
वर्धनं भुजङ्गस्य नामृतं स्यात् ॥ २७५ ॥ न हि धान्यसमो ह्यर्थः ॥ २७६ ॥
न क्षुधासमः शत्रुः ॥ २७७ ॥ अकृतेर्नियता क्षुत् ॥ २७८ ॥ नास्त्यभक्ष्यं
क्षुधितस्य ॥ २७९ ॥

इन्द्रियाणि जरावशं कुर्वन्ति ॥ २८० ॥ सानुक्रोशं भर्तारमाजीवेत्

धनवान् भी रूपवान् समझा जाता है ॥ २५८ ॥ न देने वाले धनवान् को भी याचक
लोग नहीं छोड़ते ॥ २५९ ॥ निम्नकुल में पैदा हुआ भी धनी पुरुष उच्चकुलोत्पन्न
पुरुष से बड़ा समझा जाता है ॥ २६० ॥ नीच पुरुष को अपने तिरस्कार का भय
नहीं होता ॥ २६१ ॥ चतुर पुरुष को जीविका का भय नहीं होता ॥ २६२ ॥
जितेन्द्रिय पुरुष को विषयों का भय नहीं होता ॥ २६३ ॥ आत्मदर्शी पुरुष को मृत्यु
का भय नहीं होता ॥ २६४ ॥

जो सज्जन पुरुष होता है वह पराये अर्थ को अपने ही अर्थ की भाँति मानता है
॥ २६५ ॥ दूसरे के वैभव की लिप्सा न करनी चाहिए ॥ २६६ ॥ दूसरे के वैभव की
लिप्सा करना भी नाश का कारण होता है ॥ २६७ ॥ पलालमात्र भी (थोड़ा भी)
दूसरे के द्रव्य का अपहरण न करना चाहिए ॥ २६८ ॥ दूसरे के द्रव्य का अपहरण
करना अपने द्रव्य का नाश करना है ॥ २६९ ॥ चोरी से बढ़कर कोई भी दुखदायी
बन्धन नहीं है ॥ २७० ॥ उचित समय पर प्राप्त लपसी (यवागू) भी प्राणरक्षक
होती है ॥ २७१ ॥ मृतक व्यक्ति का औषधि से कोई प्रयोजन नहीं होता ॥ २७२ ॥
समय आने पर ऐश्वर्य की आवश्यकता होती है ॥ २७३ ॥

नीच पुरुष की विद्यायें उसे पापकर्म में प्रवृत्त करती हैं ॥ २७४ ॥ सर्प को दूध
पिलाने पर उसका विष ही बढ़ता है, वह अमृत नहीं बनता ॥ २७५ ॥ अन्न से
बढ़कर दूसरा धन नहीं है ॥ २७६ ॥ भूख से बढ़कर दूसरा शत्रु नहीं है ॥ २७७ ॥
अकर्मण्य व्यक्ति को कभी-न-कभी भूख का कष्ट भोगना ही पड़ता है ॥ २७८ ॥ भूखे
मनुष्य के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं है ॥ २७९ ॥

इन्द्रियाँ मनुष्य को वृद्धावस्था में अपने वश में कर लेती हैं ॥ २८० ॥ कृपालु

॥ २८१ ॥ लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति ॥ २८२ ॥ विशेषज्ञं स्वामिनमाश्रयेत् ॥ २८३ ॥

पुरुषस्य मैथुनं जरा ॥ २८४ ॥ स्त्रीणाममैथुनं जरा ॥ २८५ ॥ न नीचो-
त्तमयोर्वैवाहः ॥ २८६ ॥ अगम्यागमनादायुर्यशःपुण्यानि क्षीयन्ते ॥ २८७ ॥

नास्त्यहंकारसमः शत्रुः ॥ २८८ ॥ संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत् ॥ २८९ ॥
शत्रुव्यसनं श्रवणसुखम् ॥ २९० ॥ अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते ॥ २९१ ॥
हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते ॥ २९२ ॥ अधनः स्वभार्ययाऽप्यवमन्यते
॥ २९३ ॥ पुष्पहीनं सहकारमपि नोपासते भ्रमराः ॥ २९४ ॥ विद्याधन-
मधनानाम् ॥ २९५ ॥ विद्या चौरैरपि न ग्राह्या ॥ २९६ ॥ विद्यया ख्या-
पिता ख्यातिः ॥ २९७ ॥ यशःशरीरं न विनश्यति ॥ २९८ ॥

यः परार्थमुपसर्पति स सत्पुरुषः ॥ २९९ ॥ इन्द्रियाणां प्रशमं शास्त्रम्
॥ ३०० ॥ अशास्त्रकार्यवृत्तौ शास्त्रांकुशं निवारयति ॥ ३०१ ॥ नीचस्य
विद्या नोपेतव्या ॥ ३०२ ॥ म्लेच्छभाषणं न शिक्षेत ॥ ३०३ ॥ म्लेच्छा-
नामपि सुवृत्तं ग्राह्यम् ॥ ३०४ ॥ गुणे न मत्सरः कर्तव्यः ॥ ३०५ ॥ शत्रोरपि
सुगुणो ग्राह्यः ॥ ३०६ ॥ विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ॥ ३०७ ॥

स्वामी की सेवा करके जीविकोपार्जन करना चाहिए ॥ २८१ ॥ कृपण स्वामी के सेवक की वही दशा होती है जो आग प्राप्त करने के लिए जुगुनू को पंखे से झलने वाले की होती है ॥ २८२ ॥ विद्वान् (विशेषज्ञ) स्वामी का आश्रय प्राप्त करना चाहिए ॥ २८३ ॥

अधिक मैथुन से पुरुष शीघ्र ही वृद्ध हो जाता है ॥ २८४ ॥ मैथुन न करने से स्त्री शीघ्र वृद्ध हो जाती है ॥ २८५ ॥ नीच और उच्च व्यक्तियों में परस्पर विवाह-संबंध नहीं हो सकता ॥ २८६ ॥ वेश्या आदि (अगम्य) स्त्रियों के साथ सहवास करने से आयु, यश और पुण्य नष्ट हो जाते हैं ॥ २८७ ॥

अहंकार से बढ़कर दूसरा शत्रु नहीं है ॥ २८८ ॥ सभा में शत्रु की निन्दा न करनी चाहिए ॥ २८९ ॥ शत्रु का दुःख सुनकर कानों को आनन्द मिलता है ॥ २९० ॥ निर्धन पुरुष को बुद्धि नहीं होती ॥ २९१ ॥ धनहीन व्यक्ति की हितकर बात को भी नहीं सुना जाता ॥ २९२ ॥ निर्धन व्यक्ति की स्त्री भी पति का अपमान कर बैठती है ॥ २९३ ॥ पुष्परहित आम के पास भौरे नहीं जाते ॥ २९४ ॥ निर्धन के लिए विद्या ही एकमात्र धन है ॥ २९५ ॥ विद्याधन को चोर भी नहीं चुरा सकता ॥ २९६ ॥ विद्या के द्वारा ही ख्याति प्राप्त होती है ॥ २९७ ॥ यशरूपी शरीर का कभी नाश नहीं होता ॥ २९८ ॥

जो मनुष्य परोपकार के लिए आगे बढ़ता है, वही सत्पुरुष है ॥ २९९ ॥ शास्त्र-ज्ञान से इन्द्रियां शान्त होती हैं ॥ ३०० ॥ अयुक्त कार्यों में प्रवृत्त व्यक्ति को शास्त्र का अंकुश ही संयम में लगाता है ॥ ३०१ ॥ नीच पुरुष की विद्या की अवहेलना नहीं करनी चाहिए ॥ ३०२ ॥ म्लेच्छ भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३०३ ॥

अवस्थया पुरुषः सम्मान्यते ॥३०८॥ स्थान एव नराः पूज्यन्ते ॥३०९॥
आर्यवृत्तमनुतिष्ठेत् ॥ ३१० ॥ कदापि मर्यादां नातिक्रमेत् ॥ ३११ ॥
नास्त्यर्घः पुरुषरत्नस्य ॥ ३१२ ॥ न स्त्रीरत्नसमं रत्नम् ॥ ३१३ ॥ सुदुर्लभं
रत्नम् ॥ ३१४ ॥

अयशोभयं भयेषु ॥ ३१५ ॥ नास्त्यलसस्य शास्त्रागमः ॥ ३१६ ॥ न
स्त्रैणस्य स्वर्गाप्तिर्धर्मकृत्यं च ॥ ३१७ ॥

स्त्रियोऽपि स्त्रैणमवमन्यते ॥ ३१८ ॥ न पुष्ट्यार्थो सिंचति शुष्कतरुम्
॥ ३१९ ॥ अद्रव्यप्रयत्नो बालुकाक्वथनादनन्यः ॥ ३२० ॥ न महाजन-
हासः कर्तव्यः ॥ ३२१ ॥ कार्यसम्पदं निमित्तानि सूचयन्ति ॥ ३२२ ॥
नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति ॥ ३२३ ॥ न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा
॥ ३२४ ॥

परिचये दोषा न छाद्यन्ते ॥३२५॥ स्वयमशुद्धः परानाशङ्कते ॥३२६॥
स्वभावो दुरतिक्रमः ॥ ३२७ ॥

म्लेच्छ व्यक्ति की भी अच्छी बात को अपना लेना चाहिए ॥ ३०४ ॥ दूसरे के अच्छे
गुणों से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए ॥ ३०५ ॥ शत्रु में भी यदि अच्छे गुण दिखायी दें
तो उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए ॥ ३०६ ॥ विष में यदि अमृत हो तो उसे भी ले
लेना चाहिए ॥ ३०७ ॥

अवस्था के अनुसार ही पुरुष को सम्मान प्राप्त होता है ॥ ३०८ ॥ अपने स्थान
पर बने रहने से ही व्यक्ति को सम्मान मिलता है ॥ ३०९ ॥ मनुष्य को चाहिए कि
वह सदा श्रेष्ठ पुरुषों के आचरण का अनुसरण करे ॥ ३१० ॥ मर्यादा का कभी भी
उल्लंघन न करना चाहिए ॥ ३११ ॥ पुरुषरत्न का कोई मूल्य नहीं है ॥ ३१२ ॥
स्त्रीरत्न से बढ़कर दूसरा रत्न नहीं है ॥ ३१३ ॥ रत्न का मिलना बड़ा कठिन
होता है ॥ ३१४ ॥

समस्त भयों में अपयश का भय बड़ा है ॥ ३१५ ॥ आलसी पुरुष को कभी शास्त्र
की प्राप्ति नहीं होती ॥ ३१६ ॥ स्त्री में आसक्त पुरुष को न तो स्वर्ग मिलता है और
न उसके द्वारा कोई धर्मकार्य हो पाता है ॥ ३१७ ॥

स्त्रियाँ भी स्त्रैण पुरुष का अपमान कर देती हैं ॥ ३१८ ॥ फूलों का इच्छुक
व्यक्ति सूखे पेड़ को नहीं सींचता ॥ ३१९ ॥ धन के बिना किसी कार्य का उद्योग
करना बालू से तेल निकालने के समान है ॥ ३२० ॥ महापुरुषों का उपहास नहीं
करना चाहिए ॥ ३२१ ॥ किसी कार्य के लक्षण ही उसकी सिद्धि या असिद्धि की
सूचना दे देते हैं ॥ ३२२ ॥ इसी प्रकार नक्षत्रों से भी भावी सिद्धि या असिद्धि की
सूचना मिल जाती है ॥ ३२३ ॥ अपने कार्य की सिद्धि शीघ्र चाहने वाला व्यक्ति
नक्षत्रगणना पर अपने भाग्य की परीक्षा नहीं करता ॥ ३२४ ॥

परिचय हो जाने पर दोष छिपे नहीं रह सकते ॥ ३२५ ॥ अशुद्ध विचारों का

अपराधानुरूपो दण्डः ॥ ३२८ ॥ कथानुरूपं प्रतिवचनम् ॥ ३२९ ॥
विभवानुरूपमाभरणम् ॥ ३३० ॥ कुलानुरूपं वृत्तम् ॥ ३३१ ॥ कार्यानुरूपः
प्रयत्नः ॥ ३३२ ॥ पात्रानुरूपं दानम् ॥ ३३३ ॥ वयोऽनुरूपो वेषः ॥ ३३४ ॥
स्वाम्यनुकूलो भृत्यः ॥ ३३५ ॥

भर्तृवशवर्तिनी भार्या ॥ ३३६ ॥ गुरुवशानुवर्ती शिष्यः ॥ ३३७ ॥
पितृवशानुवर्ती पुत्रः ॥ ३३८ ॥ अत्युपचारः शङ्कितव्यः ॥ ३३९ ॥ स्वामिन-
मेवानुवर्तेत ॥ ३४० ॥

मातृताडितो वत्सो मातरमेवानुरोदिति ॥ ३४१ ॥

स्नेहवतः स्वल्पो हि रोषः ॥ ३४२ ॥ आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्र-
मेव पश्यति बालिशः ॥ ३४३ ॥

सोपचारः कैतवः ॥ ३४४ ॥ काम्यैर्विशेषैरुपचरणमुपचारः ॥ ३४५ ॥
चिरपरिचतानामत्युपचारः शङ्कितव्यः ॥ ३४६ ॥ गौर्दुष्कराश्वसहस्रादेका-
किनी श्रेयसी ॥ ३४७ ॥ श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः ॥ ३४८ ॥

व्यक्ति दूसरों पर भी सन्देह करता है ॥ ३२६ ॥ स्वभाव को बदलना बड़ा
कठिन है ॥ ३२७ ॥

अपराध के अनुसार ही दण्ड देना चाहिए ॥ ३२८ ॥ प्रश्न के अनुसार ही उत्तर
देना चाहिए ॥ ३२९ ॥ संपत्ति के अनुसार ही आभूषण धारण करने चाहिए ॥ ३३० ॥
अपने कुल की मर्यादा के अनुसार ही कार्य करना चाहिए ॥ ३३१ ॥ कार्य के अनुसार
ही प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३३२ ॥ पात्र के अनुसार ही दान देना चाहिए ॥ ३३३ ॥
अवस्था के अनुसार ही वेष धारण करना चाहिए ॥ ३३४ ॥ स्वामी के अनुसार ही
सेवक को कार्य करना चाहिए ॥ ३३५ ॥

पति के वश में रहने वाली पत्नी ही भार्या (भरण-पोषण की अधिकारिणी)
होती है ॥ ३३६ ॥ शिष्य को सदा गुरु के अधीन रहना चाहिए ॥ ३३७ ॥ पुत्र को
सदा पिता के अधीन रहना चाहिए ॥ ३३८ ॥ अत्यधिक आदर शंका का कारण
होता है ॥ ३३९ ॥ सेवक को सदा स्वामी की आज्ञा का अनुगमन करना
चाहिए ॥ ३४० ॥

माता के द्वारा ताड़ित बच्चा, माता के ही आगे रोता है ॥ ३४१ ॥

स्नेही व्यक्ति का कोप क्षणिक होता है ॥ ३४२ ॥ मूर्ख व्यक्ति अपने दोषों को
नहीं, दूसरों के ही दोषों को देखता है ॥ ३४३ ॥

उपचार के साथ छल होता है ॥ ३४४ ॥ किसी विशेष अभिलाषा की पूर्ति के
लिए की जाने वाली सेवा को 'उपचार' कहते हैं ॥ ३४५ ॥ सुपरिचित व्यक्ति का
अतिशय आदर-दर्शन संशयकारी होता है ॥ ३४६ ॥ एक साधारण गाय भी सौ कुत्तों
से बढ़कर होती है ॥ ३४७ ॥ कल मिलने वाले मोर की अपेक्षा आज मिलने वाला
कबूतर ही अच्छा है ॥ ३४८ ॥

अतिसंगो दोषमुत्पादयति ॥ ३४९ ॥ सर्वं जयत्यक्रोधः ॥ ३५० ॥
यद्यपकारिणि कोपः कोषे कोप एव कर्तव्यः ॥ ३५१ ॥ मतिमत्सु मूर्खमित्र-
गुरुवल्लभेषु विवादो न कर्तव्यः ॥ ३५२ ॥

नास्त्यपिशाचमैश्वर्यम् ॥ ३५३ ॥ नास्ति धनवतां शुभकर्मसु श्रमः
॥ ३५४ ॥ नास्ति गतिश्रमो यानवताम् ॥ ३५५ ॥ अलौहमयं निगडं कल-
त्रम् ॥ ३५६ ॥ यो यस्मिन् कुशलः स तस्मिन् योक्तव्यः ॥ ३५७ ॥ दुष्क-
लत्रं मनस्विनां शरीरकर्शनम् ॥ ३५८ ॥ अप्रमत्तो दारान्निरीक्षेत ॥ ३५९ ॥
स्त्रीषु किञ्चिदपि न विश्वसेत् ॥ ३६० ॥ न समाधिः स्त्रीषु लोकज्ञता च
॥ ३६१ ॥ गुरुणां माता गरीयसी ॥ ३६२ ॥ सर्वाविस्थासु माता भर्तव्या
॥ ३६३ ॥

वैदुष्यमलंकारेणाच्छाद्यते ॥ ३६४ ॥ स्त्रीणां भूषणं लज्जा ॥ ३६५ ॥
विप्राणां भूषणं वेदः ॥ ३६६ ॥ सर्वेषां भूषणं धर्मः ॥ ३६७ ॥ भूषणानां
भूषणं सविनया विद्या ॥ ३६८ ॥

अनुपद्रवं देशमावसेत् ॥ ३६९ ॥ साधुजनबहुलो देशः ॥ ३७० ॥ राज्ञो
भेतव्यं सार्वकालम् ॥ ३७१ ॥ न राज्ञः परं दैवतम् ॥ ३७२ ॥ सूदूरमपि

अत्यधिक साथ से बुराई पैदा हो जाती है ॥ ३४९ ॥ क्रोध न करने वाले व्यक्ति
की सर्वत्र विजय होती है ॥ ३५० ॥ यदि अपकारी व्यक्ति पर क्रोध करना हो तो
पहले क्रोध पर ही क्रोध करना चाहिए ॥ ३५१ ॥ बुद्धिमान् मनुष्य, मूर्ख, मित्र, गुरु
और प्रियजनों के साथ व्यर्थ का विवाद न करें ॥ ३५२ ॥

ऐश्वर्य में पैशाचिकता होती है ॥ ३५३ ॥ धनिकों को शुभकार्य करने में श्रम
नहीं करना पड़ता ॥ ३५४ ॥ सवारी पर चलने वाले को थकावट का अनुभव नहीं
होता ॥ ३५५ ॥ स्त्री बिना लोहे की बेड़ी है ॥ ३५६ ॥

जो मनुष्य जिस कार्य में निपुण हो, उसको उसी काम में नियुक्त करना चाहिए
॥ ३५७ ॥ दुष्ट स्त्री मनस्वी पुरुष के शरीर को कृश बना देती है ॥ ३५८ ॥
अप्रमत्त होकर सदा स्त्री का निरीक्षण करना चाहिए ॥ ३५९ ॥ स्त्रियों पर जरा भी
विश्वास न करना चाहिए ॥ ३६० ॥ स्त्रियों में न विवेक होता है और न लोक-
व्यवहार का ज्ञान ॥ ३६१ ॥ गुरुजनों में माता का स्थान सर्वोच्च होता है ॥ ३६२ ॥
अतएव प्रत्येक अवस्था में माता का भरण-पोषण करना चाहिए ॥ ३६३ ॥

अलंकार (बनावटीपन), पाण्डित्य को ढाँप देता है ॥ ३६४ ॥ स्त्री का आभूषण
लज्जा है ॥ ३६५ ॥ ब्राह्मणों का आभूषण वेद (ज्ञान) है ॥ ३६६ ॥ सब लोगों
का आभूषण धर्म है ॥ ३६७ ॥ समस्त आभूषणों का आभूषण विनयसंपन्न
विद्या है ॥ ३६८ ॥

जिस देश में उपद्रव न हो, वहाँ बसना चाहिए ॥ ३६९ ॥ जिस देश में सज्जन
पुरुषों का निवास हो वहीं बसना चाहिए ॥ ३७० ॥ राजा से सदा डरना चाहिए

दहति राजवह्निः ॥ ३७३ ॥ रिक्तहस्तो न राजानमभिगच्छेत् ॥ ३७४ ॥
गुरुं च दैवं च ॥ ३७५ ॥ कटुम्बिनो भेतव्यम् ॥ ३७६ ॥ गन्तव्यं च सदा
राजकुलम् ॥ ३७७ ॥ राजपुरुषैः सम्बन्धं कुर्यात् ॥ ३७८ ॥ राजदासी न
सेवितव्या ॥ ३७९ ॥ न चक्षुषाऽपि राजानं निरीक्षेत् ॥ ३८० ॥

पुत्रे गुणवति कुटुम्बिनः स्वर्गः ॥ ३८१ ॥ पुत्रा विद्यानां पारं गमयि-
तव्याः ॥ ३८२ ॥ जनपदार्थं ग्रामं त्यजेत् ॥ ३८३ ॥ ग्रामार्थं कुटुम्बस्त्य-
ज्यते ॥ ३८४ ॥ अतिलाभः पुत्रलाभः ॥ ३८५ ॥ दुर्गतेः पितरौ रक्षति स
पुत्रः ॥ ३८६ ॥ कुलं प्रख्यापयति पुत्रः ॥ ३८७ ॥ नानपत्यस्य स्वर्गः ॥ ३८८ ॥

या प्रसूते सा भार्या ॥ ३८९ ॥ तीर्थसमवाये पुत्रवतीमनुगच्छेत् ॥ ३९० ॥
सतीर्थागमनाद् ब्रह्मचर्यं नश्यति ॥ ३९१ ॥ न परक्षेत्रे बीजं विनिक्षिपेत्
॥ ३९२ ॥ पुत्रार्था हि स्त्रियः ॥ ३९३ ॥ स्वदासीपरिग्रहो हि दासभावः
॥ ३९४ ॥

उपस्थितविनाशः पथ्यवाक्यं न शृणोति ॥ ३९५ ॥ नास्ति देहिनां
सुखदुःखाभावः ॥ ३९६ ॥ मातरमिव वत्साः सुखदुःखानि कर्तारमेवानु-
गच्छन्ति ॥ ३९७ ॥

॥ ३७१ ॥ राजा से बड़ा कोई देवता नहीं है ॥ ३७२ ॥ राजवह्नि दूर से ही भस्म
कर डालती है ॥ ३७३ ॥ राजा, देवता और गुरु के पास खाली हाथ न जाना
चाहिए ॥ ३७४-३७५ ॥ कुटुम्ब के व्यक्ति से सदा डरना चाहिए ॥ ३७६ ॥ राज-
दरबार में हमेशा जाना चाहिए ॥ ३७७ ॥ राजपुरुषों से सम्बन्ध बनाये रखना
चाहिए ॥ ३७८ ॥ राजदासी से किसी तरह का सम्बन्ध न रखना चाहिए ॥ ३७९ ॥
राजा की ओर आँख उठाकर न देखना चाहिए ॥ ३८० ॥

गुणवान् पुत्र से परिवार स्वर्ग बन जाता है ॥ ३८१ ॥ पुत्र को सब विद्याओं में
पारंगत बनाना चाहिए ॥ ३८२ ॥ जनपद के हित के आगे ग्रामहित को त्याग देना
चाहिए ॥ ३८३ ॥ ग्रामहित के लिए परिवार-हित की उपेक्षा कर देनी चाहिए
॥ ३८४ ॥ पुत्रलाभ सर्वोच्च लाभ है ॥ ३८५ ॥ दुर्गति से माता-पिता की रक्षा
करने वाला पुत्र ही होता है ॥ ३८६ ॥ सुपुत्र से ही कुल की ख्याति होती है ॥ ३८७ ॥
पुत्रहीन व्यक्ति को स्वर्ग नहीं मिलता ॥ ३८८ ॥

सन्तान को जन्म देने वाली स्त्री ही भार्या है ॥ ३८९ ॥ अनेक स्त्रियों के एक
साथ ऋतुमती होने पर उस स्त्री के पास जाना चाहिए, जो पहले पुत्रवती हो ॥ ३९० ॥
रजस्वला स्त्री के साथ संभोग करने से ब्रह्मचर्य नष्ट होता है ॥ ३९१ ॥ परस्त्री के
गर्भ में वीर्य का निक्षेप नहीं करना चाहिए ॥ ३९२ ॥ पुत्र-प्राप्ति के लिए ही स्त्रियों
का वरण किया जाता है ॥ ३९३ ॥ अपनी दासी के साथ परिग्रह करना अपने को
दास बना लेना है ॥ ३९४ ॥

जिसका विनाश निकट होता है, वह हित की बात को नहीं सुनता ॥ ३९५ ॥

तिलमात्रमप्युपकारं शैलवन्मन्यते साधुः ॥ ३९८ ॥ उपकारोऽनार्येष्व-
कर्तव्यः ॥ ३९९ ॥ प्रत्युपकारभयादनार्यः शत्रुर्भवति ॥ ४०० ॥ स्वल्प-
मप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति ॥ ४०१ ॥ न कदाऽपि
देवताऽवमन्तव्या ॥ ४०२ ॥

न चक्षुषः समं ज्योतिरस्ति ॥ ४०३ ॥ चक्षुर्हि शरीरिणां नेता ॥ ४०४ ॥
अपचक्षुषः किं शरीरेण ॥ ४०५ ॥

नाप्सु मूत्रं कुर्यात् ॥ ४०६ ॥ न नग्नो जलं प्रविशेत् ॥ ४०७ ॥ यथा
शरीरं तथा ज्ञानम् ॥ ४०८ ॥ यथा बुद्धिस्तथा विभवः ॥ ४०९ ॥ अग्ना-
वग्निं न निक्षिपेत् ॥ ४१० ॥ तपस्विनः पूजनीयाः ॥ ४११ ॥ परदारान्न
गच्छेत् ॥ ४१२ ॥ अन्नदानं भ्रूणहत्यामपि मार्ष्टि ॥ ४१३ ॥ न वेदबाह्यो
धर्मः ॥ ४१४ ॥ कदाचिदपि धर्मं निषेवेत् ॥ ४१५ ॥

स्वर्गं नयति सूनृतम् ॥ ४१६ ॥ नास्ति सत्यात् परं तपः ॥ ४१७ ॥
सत्यं स्वर्गस्य साधनम् ॥ ४१८ ॥ सत्येन धार्यते लोकः ॥ ४१९ ॥ सत्याद्
देवो वर्षति ॥ ४२० ॥

प्रत्येक देहधारी व्यक्ति के लिए सुख और दुःख लगे रहते हैं ॥ ३९६ ॥ जैसे बछड़ा
माता के पास जा पहुँचता है वैसे ही सुख और दुःख अपने कर्ता के पास जा
पहुँचते हैं ॥ ३९७ ॥

सज्जन पुरुष तिलतुल्य उपकार को पहाड़ जैसा मानता है ॥ ३९८ ॥ दुष्ट पुरुष
का उपकार न करना चाहिए ॥ ३९९ ॥ क्योंकि प्रत्युपकारभय से दुष्ट पुरुष शत्रु
बन जाता है ॥ ४०० ॥ सज्जन पुरुष थोड़े भी उपकार का महान् प्रत्युपकार करने
के लिए उद्यत रहता है ॥ ४०१ ॥ देवता का कभी भी अपमान न करना
चाहिए ॥ ४०२ ॥

आँख के समान दूसरी ज्योति नहीं है ॥ ४०३ ॥ नेत्र, देहधारियों का नेता है
॥ ४०४ ॥ नेत्रहीन व्यक्ति का शरीर धारण करना व्यर्थ है ॥ ४०५ ॥

जल में मूत्रत्याग नहीं करना चाहिए ॥ ४०६ ॥ नग्न होकर पानी में न उतरना
चाहिए ॥ ४०७ ॥ जैसा शरीर होता है, उसमें वैसा ही ज्ञान रहता है ॥ ४०८ ॥
जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही वैभव प्राप्त होता है ॥ ४०९ ॥ आग में आग न डालनी
चाहिए (तेजस्वी पर क्रोध न करना चाहिए) ॥ ४१० ॥ तपस्वियों की सदा पूजा
करनी चाहिए ॥ ४११ ॥ पराई स्त्री के साथ समागम न करना चाहिए ॥ ४१२ ॥
अन्नदान से भ्रूण (गर्भस्थ शिशु) हत्या का भी पाप मिट जाता है ॥ ४१३ ॥ वेद-
स्वीकृत धर्म ही वास्तविक धर्म है ॥ ४१४ ॥ जिस तरह भी हो, धर्म का आचरण
करना चाहिए ॥ ४१५ ॥

मीठी और सच्ची वाणी मनुष्य को स्वर्ग ले जाती है ॥ ४१६ ॥ सत्य से बढ़कर
कोई तप नहीं है ॥ ४१७ ॥ सत्य ही स्वर्ग का साधन है ॥ ४१८ ॥ सत्य पर ही
संसार टिका है ॥ ४१९ ॥ सत्य से ही इन्द्र जल बरसाता है ॥ ४२० ॥

नानृतात् पातकं परम् ॥ ४२१ ॥ न मीमांस्या गुरवः ॥ ४२२ ॥ खलत्वं नोपेयात् ॥ ४२३ ॥ नास्ति खलस्य मित्रम् ॥ ४२४ ॥ लोकयात्रा दरिद्रं बाधते ॥ ४२५ ॥

अतिशूरो दानशूरः ॥ ४२६ ॥ गुरुदेवब्राह्मणेषु भक्तिर्भूषणम् ॥ ४२७ ॥ सर्वस्य भूषणं विनयः ॥ ४२८ ॥ अकुलीनोऽपि विनीतः कुलीनाद् विशिष्टः ॥ ४२९ ॥

आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च ॥ ४३० ॥ प्रियमप्यहितं न वक्तव्यम् ॥ ४३१ ॥ बहुजनविरुद्धमेकं नानुवर्तेत ॥ ४३२ ॥ न दुर्जनेषु भागधेयः कर्तव्यः ॥ ४३३ ॥ न कृतार्थेषु नीचेषु सम्बन्धः ॥ ४३४ ॥ ऋणशत्रुव्याधिष्वशेषः कर्तव्यः ॥ ४३५ ॥ भूत्यानुवर्तनं पुरुषस्य रसायनम् ॥ ४३६ ॥

नार्थिष्ववज्ञा कार्या ॥ ४३७ ॥ दुष्करं कर्म कारयित्वा कर्तारमवमन्यते नीचः ॥ ४३८ ॥ नाकृतज्ञस्य नरकान्निवर्तनम् ॥ ४३९ ॥

जिह्वायत्तौ वृद्धिविनाशौ ॥ ४४० ॥ विषामृतयोराकरी जिह्वा ॥ ४४१ ॥ प्रियवादिनो न शत्रुः ॥ ४४२ ॥ स्तुता अपि देवतास्तुष्यन्ति ॥ ४४३ ॥ अनृतमपि दुर्वचनं चिरं तिष्ठति ॥ ४४४ ॥ राजद्विष्टं न च वक्तव्यम् ॥ ४४५ ॥ श्रुतिसुखात्कोकिलालापात् तुष्यन्ति ॥ ४४६ ॥

भूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है ॥ ४२१ ॥ गुरुजनों की आलोचना नहीं करनी चाहिए ॥ ४२२ ॥ दुष्टता को अंगीकार न करना चाहिए ॥ ४२३ ॥ दुष्ट मनुष्य का कोई मित्र नहीं होता ॥ ४२४ ॥ दरिद्र मनुष्य को जीवन-निर्वाह करना कठिन होता है ॥ ४२५ ॥

दानवीर ही सबसे बड़ा वीर है ॥ ४२६ ॥ गुरु, देवता और ब्राह्मणों में भक्ति रखना मानवता का आभूषण है ॥ ४२७ ॥ विनय सबका आभूषण है ॥ ४२८ ॥ जो कुलीन न होता हुआ भी विनीत हो वह अविनीत कुलीन की अपेक्षा बड़ा है ॥ ४२९ ॥

सदाचार से आयु और यश दोनों की वृद्धि होती है ॥ ४३० ॥ प्रिय होने पर भी अहितकर वाणी को न बोलना चाहिए ॥ ४३१ ॥ अनेक लोगों के विरोधी एक व्यक्ति का अनुगमन नहीं करना चाहिए ॥ ४३२ ॥ दुर्जन व्यक्तियों के साथ अपना भाग्य नहीं जोड़ना चाहिए ॥ ४३३ ॥ कृतार्थ (सफल) नीच पुरुष से सम्बन्ध न करना चाहिए ॥ ४३४ ॥ ऋण, शत्रु और रोग को सर्वथा समाप्त कर देना चाहिए ॥ ४३५ ॥ कल्याण मार्ग पर चलना ही मनुष्य के लिए उत्तम रसायन है ॥ ४३६ ॥

याचक से घृणा न करनी चाहिए ॥ ४३७ ॥ नीच मनुष्य दुष्कर्म कराके, कर्ता को अपमानित करता है ॥ ४३८ ॥ कृतघ्न मनुष्य के लिए नरक के अतिरिक्त कोई गति नहीं है ॥ ४३९ ॥

अपनी उन्नति और अवनति अपनी वाणी के अधीन है ॥ ४४० ॥ वाणी ही विष तथा अमृत की खान है ॥ ४४१ ॥ प्रिय वचन बोलने वाले का कोई शत्रु नहीं है

स्वधर्महेतुः सत्पुरुषः ॥ ४४७ ॥ नास्त्यर्थिनो गौरवम् ॥ ४४८ ॥
स्त्रीणां भूषणं सौभाग्यम् ॥ ४४९ ॥ शत्रोरपि न पातनीया वृत्तिः ॥ ४५० ॥
अप्रयत्नोदकं क्षेत्रम् ॥ ४५१ ॥ एरण्डमवलम्ब्य कुञ्जरं न कोपयेत् ॥ ४५२ ॥
अतिप्रवृद्धा शाल्मली वारणस्तम्भो न भवति ॥ ४५३ ॥ अतिदीर्घोऽपि
कर्णिकारो न मुसली ॥ ४५४ ॥ अतिदीप्तोऽपि खद्योतो न पावकः ॥ ४५५ ॥
न प्रवृद्धत्वं गुणहेतुः ॥ ४५६ ॥

सुजीर्णोऽपि पिचुमन्दो न शङ्कुलायते ॥ ४५७ ॥ यथा बीजं तथा
निष्पत्तिः ॥ ४५८ ॥ यथा श्रुतं तथा बुद्धिः ॥ ४५९ ॥ यथा कुलं तथाऽऽ-
चारः ॥ ४६० ॥ संस्कृतः पिचुमन्दः सहकारो न भवति ॥ ४६१ ॥ न
चागतं सुखं त्यजेत् ॥ ४६२ ॥ स्वयमेव दुःखमधिगच्छति ॥ ४६३ ॥

रात्रिचारणं न कुर्यात् ॥ ४६४ ॥ न चार्धरात्रं स्वपेत् ॥ ४६५ ॥ तद्
विद्वद्भिः परीक्षेत ॥ ४६६ ॥ परगृहमकारणतो न प्रविशेत् ॥ ४६७ ॥
ज्ञात्वाऽपि दोषमेव करोति लोकः ॥ ४६८ ॥

॥ ४४२ ॥ स्तुति से देवता भी प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ४४३ ॥ असत्य दुर्वचन चिर-
काल तक स्मरण होता रहता है ॥ ४४४ ॥ राजा से द्वेष करने वाली बात न बोलनी
चाहिए ॥ ४४५ ॥ काली कोयल के भी, कानों को सुख देने वाले वचन सबको भाते
हैं (कोयल के समान, कानों को सुख देने वाली वाणी का प्रयोग करना चाहिए)
॥ ४४६ ॥

स्वधर्म पर अवस्थित रहने के कारण पुरुष भी सत्यपुरुष हो जाता है ॥ ४४७ ॥
याचक का कोई गौरव नहीं होता ॥ ४४८ ॥ सुहाग स्त्री का आभूषण है ॥ ४४९ ॥
शत्रु की भी जीविका को नष्ट न करना चाहिए ॥ ४५० ॥ जहाँ बिना प्रयत्न के जल
सुलभ हो वही अपना खेत है ॥ ४५१ ॥ एरण्ड वृक्ष के सहारे पर हाथी को कुपित
करना उचित नहीं है ॥ ४५२ ॥ बहुत बड़ा होने पर भी सेमल के वृक्ष से हाथी को
नहीं बाँधा जा सकता ॥ ४५३ ॥ बहुत बड़ा हुआ भी कनेर का वृक्ष मूसल बनाने के
काम में नहीं आता ॥ ४५४ ॥ जुगुनू कितना भी अधिक चमकीला क्यों न हो, आग
का काम नहीं दे सकता ॥ ४५५ ॥ बहुत बड़ा समृद्धिशाली हो जाने पर भी कोई
गुणवान् नहीं हो पाता ॥ ४५६ ॥

बहुत पुराना होने पर भी नीम के वृक्ष का सरोता नहीं बन सकता ॥ ४५७ ॥
जैसा बीज होता है वैसा ही उससे फल उत्पन्न होता है ॥ ४५८ ॥ योग्यता के ही
अनुरूप बुद्धि होती है ॥ ४५९ ॥ जैसा कुल होता है वैसा ही आचार होता है
॥ ४६० ॥ कितना ही संस्कार क्यों न किया जाय, नीम आम नहीं बन सकता
॥ ४६१ ॥ जो सुख प्राप्त हो उसको न छोड़ना चाहिए ॥ ४६२ ॥ कर्मानुसार ही
मनुष्य को दुःख मिलता है ॥ ४६३ ॥

रात के समय व्यर्थ न घूमना चाहिए ॥ ४६४ ॥ आधी रात को शयन न करना

शास्त्रप्रधाना लोकवृत्तिः ॥ ४६९ ॥ शास्त्राभावे शिष्टाचारमनुगच्छेत्
॥ ४७० ॥ नाचरिताच्छास्त्रं गरीयः ॥ ४७१ ॥

दूरस्थमपि चारचक्षुः पश्यति राजा ॥ ४७२ ॥ गतानुगतिको लोकः
॥ ४७३ ॥

यमनुजीवेत् तं नापवदेत् ॥ ४७४ ॥ तपःसार इन्द्रियनिग्रहः ॥ ४७५ ॥
दुर्लभः स्त्रीबन्धनान्मोक्षः ॥ ४७६ ॥ स्त्री नाम सर्वाशुभानां क्षेत्रम्
॥ ४७७ ॥

न च स्त्रीणां पुरुषपरीक्षा ॥ ४७८ ॥ स्त्रीणां मनः क्षणिकम् ॥ ४७९ ॥
अशुभद्वेषिणः स्त्रीषु न प्रसक्ताः ॥ ४८० ॥

यज्ञफलज्ञास्त्रिवेदविदः ॥ ४८१ ॥ स्वर्गस्थानं न शाश्वतं यावत् पुण्य-
फलम् ॥ ४८२ ॥ न च स्वर्गपतनात् परं दुःखम् ॥ ४८३ ॥ देही देहं
त्यक्त्वा ऐन्द्रं पदं न वाञ्छति ॥ ४८४ ॥ दुःखानामौषधं निर्वाणम् ॥ ४८५ ॥

अनार्यसम्बन्धाद्वरमार्यशत्रुता ॥ ४८६ ॥ निहन्ति दुर्वचनं कुलम् ॥ ४८७ ॥
न पुत्रसंस्पर्शात् परं सुखम् ॥ ४८८ ॥

चाहिए ॥ ४६५ ॥ विद्वानों के सामने ब्रह्म की चर्चा करनी चाहिए ॥ ४६६ ॥
अकारण दूसरे के घर में न जाना चाहिए ॥ ४६७ ॥ जान-बूझकर भी लोग अपराध
ही करते हैं ॥ ४६८ ॥

लोकव्यवहार शास्त्रानुकूल होना चाहिए ॥ ४६९ ॥ शास्त्रज्ञान न होने पर श्रेष्ठ
पुरुषों के आचरण का अनुगमन करना चाहिए ॥ ४७० ॥ सदाचार से बढ़कर कोई
शास्त्र नहीं है ॥ ४७१ ॥

गुप्तचरों के द्वारा राजा दूर की वस्तु को देख लेता है ॥ ४७२ ॥ लोक, परम्परा
का अनुगमन करता है ॥ ४७३ ॥

जिसके द्वारा जीविकोपार्जन होता है उसकी निन्दा न करनी चाहिए ॥ ४७४ ॥
इन्द्रियनिग्रह तप का सार है ॥ ४७५ ॥

स्त्री के बन्धन से छूटना बड़ा दुष्कर है ॥ ४७६ ॥ स्त्री समस्त अशुभों की जन्म-
दात्री है ॥ ४७७ ॥

स्त्री, पुरुष की परीक्षा नहीं कर सकती ॥ ४७८ ॥ स्त्री का मन क्षण-क्षण बद-
लता रहता है ॥ ४७९ ॥ अशुभ कर्मों को न चाहने वाले लोग स्त्रियों में आसक्त
नहीं होते ॥ ४८० ॥

वेदत्रयी (ऋक्, यजु, साम) को जानने वाला ही यज्ञ के फल को जानता है
॥ ४८१ ॥ स्वर्गप्राप्ति स्थायी नहीं होती, क्योंकि उसकी अवधि तब तक होती है,
जब तक पुण्य का फल शेष रहता है ॥ ४८२ ॥ स्वर्गपतन से बढ़कर दुःख नहीं है
॥ ४८३ ॥ शरीर त्याग करके जीव इन्द्रासन को नहीं चाहता ॥ ४८४ ॥ समस्त
दुःखों की औषधि मोक्ष है ॥ ४८५ ॥

विवादे धर्ममनुस्मरेत् ॥ ४८९ ॥ निशान्ते कार्यं चिन्तयेत् ॥ ४९० ॥
प्रदोषे न संयोगः कर्तव्यः ॥ ४९१ ॥ उपस्थितविनाशो दुर्नयं मन्यते
॥ ४९२ ॥ क्षीरार्थिनः किं करिष्या ॥ ४९३ ॥ न दानसमं वश्यम् ॥ ४९४ ॥
परायत्तेषूत्कृष्ठां न कुर्यात् ॥ ४९५ ॥ असत्समृद्धिरसद्भिरेव भुज्यते
॥ ४९६ ॥ निम्बफलं काकैरेव भुज्यते ॥ ४९७ ॥ नाम्भोधिस्तृष्णामपोहति
॥ ४९८ ॥

बालुका अपि स्वगुणमाश्रयन्ते ॥ ४९९ ॥ सन्तोऽसत्सु न रमन्ते ॥ ५०० ॥
हंसः प्रेतवने न रमते ॥ ५०१ ॥

अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः ॥ ५०२ ॥ आशया बध्यते लोकः ॥ ५०३ ॥ न
चाशापरैः श्रीः सह तिष्ठति ॥ ५०४ ॥ आशापरे न धैर्यम् ॥ ५०५ ॥

दैन्यान्मरणमुत्तमम् ॥ ५०६ ॥ आशा लज्जां व्यपोहति ॥ ५०७ ॥

न मात्रा सह वासः कर्तव्यः ॥ ५०८ ॥ आत्मा न स्तोतव्यः ॥ ५०९ ॥
न दिवा स्वप्नं कुर्यात् ॥ ५१० ॥ न चासन्नमपि पश्यत्यैश्वर्यान्धो न शृणो-
तीष्टं वाक्यम् ॥ ५११ ॥

अनार्य व्यक्ति की मित्रता से आर्यव्यक्ति की शत्रुता अच्छी है ॥ ४८६ ॥ दुर्वाणि
सारे कुल को नष्ट कर देती है ॥ ४८७ ॥ पुत्र के आलिङ्गन से बढ़कर कोई सुख नहीं
है ॥ ४८८ ॥

विवाद के समय धर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए ॥ ४८९ ॥ नित्य प्रातः-
काल अपने (दिन के) कार्यों पर विचार करना चाहिए ॥ ४९० ॥ संध्याकाल में
संभोग वर्जित है ॥ ४९१ ॥ जिसका विनाशकाल निकट होता है वह अन्याय पर
उतर आता है ॥ ४९२ ॥ दूध चाहने वाले को हथिनी की आवश्यकता नहीं होती
॥ ४९३ ॥ दान के समान कोई वशीकरण नहीं ॥ ४९४ ॥ परायी वस्तु की इच्छा
न करनी चाहिए ॥ ४९५ ॥ दुर्जनों की समृद्धि को दुर्जन ही भोगते हैं ॥ ४९६ ॥
नीम के फल को कौवे ही खाते हैं ॥ ४९७ ॥ समुद्र प्यास नहीं बुझाता ॥ ४९८ ॥

बालू भी अपने गुण का अनुसरण करती है ॥ ४९९ ॥ भले लोग बुरे लोगों से
आनन्दित नहीं होते ॥ ५०० ॥ हंस श्मशान में रहना पसन्द नहीं करते ॥ ५०१ ॥

सारा संसार धन के पीछे दौड़ता है ॥ ५०२ ॥ सभी सांसारिक प्राणी आशा के
बन्धन से बँधे हैं ॥ ५०३ ॥ आशा में निमग्न पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती ॥ ५०४ ॥
आशावान् मनुष्य धैर्यशाली नहीं होता ॥ ५०५ ॥

दरिद्र होकर जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है ॥ ५०६ ॥ आशा,
लज्जा को मिटा देती है ॥ ५०७ ॥

एकान्त में माता के भी साथ न रहे ॥ ५०८ ॥ अपने मुख से अपनी प्रशंसा न
करनी चाहिए ॥ ५०९ ॥ दिन में सोना न चाहिए ॥ ५१० ॥ ऐश्वर्य में अन्धा
मनुष्य न तो अपने समीप की वस्तु को देखता है और न हितकारी बात को सुनता
है ॥ ५११ ॥

स्त्रीणां न भर्तुः परं दैवतम् ॥ ५१२ ॥ तदनुवर्तनमुभयसुखम् ॥ ५१३ ॥
 अतिथिमभ्यागतं पूजयेद् यथाविधिः ॥ ५१४ ॥ नास्ति हव्यस्य व्याघातः
 ॥ ५१५ ॥ शत्रुमित्रवत् प्रतिभाति ॥ ५१६ ॥ मृगतृष्णा जलवद् भाति
 ॥ ५१७ ॥ दुर्मेधसामसच्छास्त्रं मोहयति ॥ ५१८ ॥ सत्संगः स्तर्गवासः
 ॥ ५१९ ॥ आर्यः स्वमिव परं मन्यते ॥ ५२० ॥ रूपानुवर्ती गुणः ॥ ५२१ ॥
 यत्र सुखेन वर्तते तदेव स्थानम् ॥ ५२२ ॥

विश्वासघातिनो न निष्कृतिः ॥ ५२३ ॥ दैवायत्तं न शोचेत् ॥ ५२४ ॥
 आश्रितदुःखमात्मन इव मन्यते साधुः ॥ ५२५ ॥ हृद्गतमाच्छाद्यान्यद् वद-
 त्यनार्यः ॥ ५२६ ॥ बुद्धिहीनः पिशाचतुल्यः ॥ ५२७ ॥ असहायः पथि न
 गच्छेत् ॥ ५२८ ॥ पुत्रो न स्तोतव्यः ॥ ५२९ ॥

स्वामी स्तोतव्योऽनुजीविभिः ॥ ५३० ॥ धर्मकृत्येष्वपि स्वामिन एव
 घोषयेत् ॥ ५३१ ॥ राजाज्ञां नातिलङ्घयेत् ॥ ५३२ ॥ यथाऽऽज्ञप्तं तथा
 कुर्यात् ॥ ५३३ ॥

नास्ति बुद्धिमतां शत्रुः ॥ ५३४ ॥ आत्मच्छिद्रं न प्रकाशयेत् ॥ ५३५ ॥

स्त्री के लिए पति बढ़कर कोई देवता नहीं है ॥ ५१२ ॥ पति के इच्छानुसार
 चलने वाली स्त्री को इहलोक और परलोक, दोनों का सुख प्राप्त होता है ॥ ५१३ ॥
 अपने यहाँ आये हुए अतिथि का विधिवत् सत्कार करना चाहिए ॥ ५१४ ॥ देव-
 ताओं के निमित्त से दिया हुआ द्रव्य कभी भी नष्ट नहीं होता ॥ ५१५ ॥ शत्रु भी
 कभी मित्र के समान दिखायी देता है ॥ ५१६ ॥ तृष्णा के कारण मृग चमकती हुई
 बालू को जल समझ बैठता है ॥ ५१७ ॥ दुर्बुद्धि मनुष्य को असत् शास्त्र मोह लेते
 हैं ॥ ५१८ ॥ सत्संग ही स्वर्गवास है ॥ ५१९ ॥ श्रेष्ठ व्यक्ति सबको अपने ही समान
 समझता है ॥ ५२० ॥ रूप के अनुसार ही मनुष्य में गुण होता है ॥ ५२१ ॥ जहाँ
 सुख से रहा जा सके, वही उत्तम स्थान है ॥ ५२२ ॥

विश्वासघाती मनुष्य के उद्धार के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं ॥ ५२३ ॥ जो बात
 दैव के अधीन है उसके सम्बन्ध में सोच-विचार न करना चाहिए ॥ ५२४ ॥ सज्जन
 व्यक्ति आश्रितों के दुःख को अपना ही दुःख समझते हैं ॥ ५२५ ॥ हृदय की बात को
 छिपाकर बनावटी बातें करने वाला अनार्य है ॥ ५२६ ॥ बुद्धिहीन मनुष्य पिशाच के
 समान है ॥ ५२७ ॥ बिना साथ के यात्रा न करनी चाहिए ॥ ५२८ ॥ अपने पुत्र
 की प्रशंसा न करनी चाहिए ॥ ५२९ ॥

सेवक लोगों को चाहिए कि वे अपने स्वामी का गुणगान करते रहें ॥ ५३० ॥
 अपने धर्मकार्यों में भी वे स्वामी का गुणगान करते रहें ॥ ५३१ ॥ राजा की आज्ञा का
 कभी भी उल्लंघन न करना चाहिए ॥ ५३२ ॥ उसकी जैसी आज्ञा हो तदनुसार
 करना चाहिए ॥ ५३३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य का कोई शत्रु नहीं है ॥ ५३४ ॥ अपनी गुप्त बात किसी पर

क्षमावानेव सर्वं साधयति ॥ ५३६ ॥ आपदर्थं धनं रक्षेत् ॥ ५३७ ॥ साहस-
वतां प्रियं कर्तव्यम् ॥ ५३८ ॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत ॥ ५३९ ॥ आपराह्लिकं पूर्वाह्लि एव कर्तव्यम्
॥ ५४० ॥

व्यवहारानुलोमो धर्मः ॥ ५४१ ॥ सर्वज्ञता लोकज्ञता ॥ ५४२ ॥ शास्त्र-
ज्ञोऽप्यलोकज्ञो मूर्खतुल्यः ॥ ५४३ ॥ शास्त्रप्रयोजनं तत्त्वदर्शनम् ॥ ५४४ ॥
तत्त्वज्ञानं कार्यमेव प्रकाशयति ॥ ५४५ ॥

व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः ॥ ५४६ ॥ धर्मादिपि व्यवहारो गरीयान्
॥ ५४७ ॥ आत्मा हि व्यवहारस्य साक्षी ॥ ५४८ ॥ सर्वसाक्षी ह्यात्मा
॥ ५४९ ॥ न स्यात् कूटसाक्षी ॥ ५५० ॥ कूटसाक्षिणो नरके पतन्ति
॥ ५५१ ॥ प्रच्छन्नपापानां साक्षिणो महाभूतानि ॥ ५५२ ॥ आत्मनः
पापमात्मैव प्रकाशयति ॥ ५५३ ॥ व्यवहारेऽन्तर्गतमाचारः सूचयति
॥ ५५४ ॥

आकारसंवरणं देवानामशक्यम् ॥ ५५५ ॥

चोरराजपुरुषेभ्यो वित्तं रक्षेत् ॥ ५५६ ॥ दुर्दर्शना हि राजानः प्रजाः
नाशयन्ति ॥ ५५७ ॥

प्रकट न करनी चाहिए ॥ ५३५ ॥ क्षमाशील मनुष्य अपना सब कार्य साध लेता है
॥ ५३६ ॥ आपत्काल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए ॥ ५३७ ॥ साहसी पुरुष
कर्तव्यप्रिय होता है ॥ ५३८ ॥

जो कार्य कल करना है, उसको आज ही कर लेना चाहिए ॥ ५३९ ॥ जो कार्य
दोपहर के बाद करना है उसको दोपहर के पहले ही कर लेना चाहिए ॥ ५४० ॥

व्यवहार के अनुसार ही धर्म होता है ॥ ५४१ ॥ सांसारिक बातों का ज्ञाता ही
सर्वज्ञ कहलाता है ॥ ५४२ ॥ शास्त्रज्ञ होता हुआ भी जो लोकज्ञ न हो, वह मूर्ख के
समान है ॥ ५४३ ॥ यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति ही शास्त्र का प्रयोजन है ॥ ५४४ ॥ कार्य
ही यथार्थ ज्ञान के प्रकाशक हैं ॥ ५४५ ॥

व्यवहार (न्याय) में पक्षपात न करना चाहिए ॥ ५४६ ॥ व्यवहार धर्म से
भी बड़ा होता है ॥ ५४७ ॥ व्यवहार का साक्षी आत्मा है ॥ ५४८ ॥ समस्त प्राणियों
में आत्मा साक्षीरूप में विद्यमान रहता है ॥ ५४९ ॥ कपट-साक्षी न होना चाहिए
॥ ५५० ॥ झूठे साक्षी नरक में जाते हैं ॥ ५५१ ॥ छिपकर किये गये पापों के साक्षी
पंच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) हैं ॥ ५५२ ॥ अपने पापों को
पापी स्वयमेव प्रकट करता है ॥ ५५३ ॥ व्यवहार के समय मन की बात को आकृति
ही प्रकट कर देती है ॥ ५५४ ॥

मनोगत भावों की अभिसूचक आकृति को देवता भी नहीं छिपा सकते ॥ ५५५ ॥

चोरों और राजपुरुषों से अपने धन की रक्षा करनी चाहिए ॥ ५५६ ॥ जिन



COLLECTION OF VARIOUS
-> HINDUISM SCRIPTURES
-> HINDU COMICS
-> AYURVEDA
-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

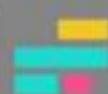
Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING



COLLECTION OF VARIOUS

-> HINDUISM SCRIPTURES

-> HINDU COMICS

-> AYURVEDA

-> MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

**Icreator of
hinduism
server!**



KAPWING

सुदर्शना हि राजानः प्रजा रञ्जयन्ति ॥ ५५८ ॥ न्याययुक्तं राजानं
मातरं मन्यन्ते प्रजाः ॥ ५५९ ॥ तादृशः स राजा इह सुखं ततः स्वर्ग-
माप्नोति ॥ ५६० ॥

अहिंसालक्षणो धर्मः ॥ ५६१ ॥ स्वशरीरमपि परशरीरं मन्यते साधुः
॥ ५६२ ॥ मांसभक्षणमयुक्तं सर्वेषाम् ॥ ५६३ ॥

न संसारभयं ज्ञानवताम् ॥ ५६४ ॥ विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते
॥ ५६५ ॥

सर्वमनित्यं भवति ॥ ५६६ ॥ कृमिशकृन्मूत्रभाजनं शरीरं पुण्यपाप-
जन्महेतुः ॥ ५६७ ॥ जन्ममरणादिषु दुःखमेव ॥ ५६८ ॥

तेभ्यस्ततुं प्रयतेत ॥ ५६९ ॥ तपसा स्वर्गमाप्नोति ॥ ५७० ॥ क्षमा-
युक्तस्य तपो विवर्धते ॥ ५७१ ॥ तस्मात् सर्वेषां कार्यसिद्धिर्भवति ॥ ५७२ ॥

इति चाणक्यसूत्राणि

—: ० :—

राजाओं के दर्शन, प्रजा को कठिनाई से प्राप्त होते हैं उसकी प्रजा नष्ट हो जाती है ॥ ५५७ ॥

जो राजा बराबर प्रजा के सुख-दुःख को सुनते हैं उनसे प्रजा प्रसन्न रहती है ॥ ५५८ ॥ न्यायपरायण राजा को, प्रजा माता के समान मानती है ॥ ५५९ ॥ इस प्रकार का प्रजाप्रिय राजा ऐहिक सुख और पारलौकिक स्वर्ग को प्राप्त करता है ॥ ५६० ॥

अहिंसा ही धर्म है ॥ ५६१ ॥ सज्जन पुरुष अपने शरीर को भी पराया ही मानते हैं ॥ ५६२ ॥ मांस-भक्षण सबके लिए अनुचित है ॥ ५६३ ॥ ज्ञानी पुरुषों को संसार का भय नहीं होता ॥ ५६४ ॥ विज्ञान (ब्रह्मज्ञान) के दीपक से संसार-भय भाग जाता है ॥ ५६५ ॥

यह दिखायी देने वाला सब कुछ अनित्य है ॥ ५६६ ॥ कृमि-कीट तथा मल-मूत्र का घर शरीर पुण्य-पाप का जन्मस्थल है ॥ ५६७ ॥ यह जन्म-मरण आदि दुःख ही दुःख है ॥ ५६८ ॥

इस जन्म-मरणादि से छुटकारा पाने का उपाय करना चाहिए ॥ ५६९ ॥ सब से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ ५७० ॥ क्षमाशील पुरुष का तप बढ़ता रहता है ॥ ५७१ ॥ तपश्चर्या से सबके कार्य सिद्ध होते हैं ॥ ५७२ ॥

चाणक्यसूत्र समाप्त

—: ० :—